विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (म.प्र.)

वर्ष: २१ अंक: १

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी–फरवरी–मार्च

* १९८३ *

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी श्रीकरानन्द

वार्षिक ८) एक प्रति २॥)

वर्ष २१
अंक १

आजीवन सदस्यता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)—१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर–४९२००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २४५८९

१९२५. श्री राजेन्द्र प्रसाद राजगुरु, इन्दौर।
१९२६. श्री उमेश चन्द्र गुप्ता, इन्दौर।
१९२७. डा० मोतीलाल खेतान, देवरिया (उ. प्र.)।
१९२८. श्री रामावतार अग्रवाल, शहडोल।
१९२९. सरस्वती शिशु मन्दिर, शहडोल।

●

(फार्म ४ रूल ८ के अनुसार)

'विवेक-ज्योति' विषयक ब्यौरा

१.	प्रकाशन का स्थान	— रायपुर
२.	प्रकाशन की नियतकालिता	— त्रैमासिक
३-५.	मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक	— स्वामी आत्मानन्द
	राष्ट्रीयता	— भारतीय
	पता	— रामकृष्ण मिशन, रायपुर
६.	स्वत्वाधिकारी	— रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ

स्वामी वीरेश्वरानन्द, स्वामी निर्वाणानन्द, स्वामी अभयानन्द, स्वामी गम्भीरानन्द, स्वामी भूतेशानन्द, स्वामी वन्दनानन्द, स्वामी रंगनाथानन्द, स्वामी तपस्यानन्द, स्वामी हिरण्मयानन्द, स्वामी गहनानन्द, स्वामी आत्मस्थानन्द, स्वामी आदिदेवानन्द, स्वामी गीतानन्द।

मैं, स्वामी आत्मानन्द, घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर) **स्वामी आत्मानन्द**

अनुक्रमणिका

—।०।—

कवर चित्र परिचय : **स्वामी विवेकानन्द**

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर प्राप्त
कराये गये कागज पर मुद्रित

मुद्रणस्थल : **सरस्वती प्रेस, डीग गेट, मथुरा (उ० प्र०)**

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २१] जनवरी–फरवरी–मार्च [अंक १
* १९८३ *

वेदान्त का सिद्धान्त

वेदान्तसिद्धान्तनिरुक्तिरेषा
ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च ।
अखण्डरूपस्थितिरेव मोक्षो
ब्रह्माद्वितीये श्रुतयः प्रमाणम् ।।

—वेदान्त का सिद्धान्त तो यही कहता है कि जीव और सम्पूर्ण जगत् केवल ब्रह्म ही है और उस अद्वितीय ब्रह्म में निरन्तर अखण्ड रूप से स्थित रहना ही मोक्ष है । ब्रह्म अद्वितीय है—इस विषय में श्रुतियाँ प्रमाण हैं ।

—विवेकचूड़ामणि, ४७९

अग्नि-मंत्र

(भगिनी निवेदिता को लिखित)

लॉस एंजिलिस,
६ दिसम्बर, १८९९

प्रिय मार्गट,

तुम्हारी छठी तारीख आ पहुँची है, किन्तु उससे भी मेरे भाग्य में कोई खास अन्तर नहीं हुआ है। क्या तुम यह समझती हो कि स्थान-परिवर्तन से कोई विशेष उपकार होगा ? किसी किसी का स्वभाव ही ऐसा है कि दुःख-कष्ट भोगना ही वे पसन्द करते हैं। वस्तुतः जिन लोगों के बीच मैंने जन्म लिया है, यदि उनके लिए मैं अपना हृदय न्यौछावर नहीं कर देता, तो दूसरे के लिए मुझे वैसा करना ही पड़ता—इसमें कोई सन्देह नहीं है। किसी किसी का स्वभाव ही ऐसा होता है—क्रमशः यह मैं समझ रहा हूँ। हम सभी सुख के पीछे दौड़ रहे हैं—यह सत्य है; किन्तु कोई कोई व्यक्ति दुःख के अन्दर ही आनन्दानुभव करते हैं—क्या यह नितान्त अद्‌भुत नहीं है ? इसमें हानि कुछ भी नहीं है; केवल विचार करने का विषय इतना ही है कि सुख-दुःख दोनों ही संक्रामक हैं। इंगरसोल ने एक बार कहा था कि यदि वे भगवान् होते, तो रोगों को संक्रामक न बनाकर स्वास्थ्य को ही वे संक्रामक बनाते। किन्तु स्वास्थ्य भी रोगों की तुलना में समान भाव से संक्रामक है—यह महत्त्वपूर्ण बात एक बार भी उनके ध्यान में नहीं आयी। विपत्ति तो यही है ! मेरे व्यक्तिगत सुख-दुःख से

जगत् का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है—केवल मुझे इतना ही देखना है कि वे दूसरों में संक्रमित न हों। यही एक महान् तथ्य है। ज्योंही कोई महापुरुष दूसरे मनुष्य की अवस्था से दु:खित होते हैं, वे गम्भीर बन जाते हैं, अपनी छाती पीटने लगते हैं और सबको बुलाकर कहते हैं, 'तुम लोग इमली का पना पिओ, अंगार फाँको, शरीर पर राख मलकर गोबर के ढेर पर बैठे रहो और आँखों में आँसू भरकर करुण स्वर से विलाप करते रहो।' मुझे ऐसा दिखायी दे रहा है कि उन सभी में त्रुटियाँ थीं—वास्तव में थीं। यदि जगत् के बोझ को अपने कन्धों पर लेने के लिए तुम यथार्थत: प्रस्तुत हो, तो पूर्ण रूप से उसे ग्रहण करो; किन्तु यह ख्याल रखो कि तुम्हारा विलाप एवं अभिशाप हमें सुनायी न दे। तुम अपनी यातनाओं के द्वारा हमें इस प्रकार भयभीत न करो कि अन्त में हमें यह सोचना पड़े कि तुम्हारे निकट न जाकर अपने दु:ख के बोझ को लेकर स्वयं बैठे रहना ही हमारे लिए कहीं उचित था। जो व्यक्ति यथार्थ में जगत् का बोझ अपने ऊपर लेता है, वह तो जगत् को आशीर्वाद देता हुआ अपने मार्ग में अग्रसर होता रहता है। वह न तो किसी की निन्दा करता है और न समालोचना ही। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जगत् में पाप का कोई अस्तित्व न हो; प्रत्युत उसका कारण यह है कि उसने स्वेच्छापूर्वक स्वत: प्रवृत्त होकर उसे अपने ऊपर लिया है। यह मुक्तिदाता ही है, जिसे 'अपने मार्ग पर आनन्दपूर्वक चलना चाहिए, मुक्तिकामी के लिए यह आवश्यक नहीं है।'

आज प्रातःकाल केवल यही सत्य मेरे सम्मुख प्रकाशित हुआ है। यदि यह भाव स्थायी रूप से मेरे अन्दर आकर मेरे समग्र जीवन में छा जाय तब कहीं ठीक होगा।

दुःख के बोझ से जर्जरित जो जहाँ कहीं भी हो, चले आओ, अपना सारा बोझ मुझे देकर तुम अपनी इच्छानुसार चलते रहो तथा सुखी बनो और यह भूल जाओ कि मेरा अस्तित्व किसी समय था।

सदा प्यार के साथ,
तुम्हारा पिता,
विवेकानन्द

•

जयतु विवेकानन्द

"श्री"

(राग—शंकरा : ताल—तीनताल)

जयतु विवेकानन्द योगिवर युगाचार्य यतिराज।
जय वीरेश्वर, जय शिवशंकर, जय जय जय महाराज ॥ध्रु०
ध्यानपरायण नरनारायण तज अखण्ड का राज।
जीवदुखहरण करत अवतरण धर संन्यासी-साज ॥
मोहतिमिरहर प्रखर दिवाकर उदित जगत-हितकाज।
तम नाशत, जड़ चित्त जगावत, चेतन सकल समाज ॥
मूर्तविवेक-विराग-ज्ञान-बल, त्रिभुवन के सिरताज।
सकल अविद्या-भ्रान्ति हरो प्रभु, चित में करो विराज ॥

•

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन के एक उपाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके उन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्‌बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' प्रथम भाग के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की अत्यन्त उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। अनुमति के लिए हम उद्‌बोधन कार्यालय के आभारी हैं।

यह हिन्दी अनुवाद श्री राजेन्द्र तिवारी ने बड़ी भक्ति और निष्ठा के साथ करके हमें दिया है। वे सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में शिक्षक हैं। —स०)

भूमिका

श्रीरामकृष्ण की भक्तमण्डली का यह दृढ़ विश्वास है कि 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' में समस्त शास्त्रों का सार समाहित है। फिर इस प्रकार का इतने सरल ढंग से सबके लिए सहज लब्ध, सहजगम्य रूप में धर्म के गूढ़ तत्त्वों का उपदेश और कहीं है या नहीं, हम नहीं जानते। इसलिए इसमें सन्देह नहीं कि 'वचनामृत' का पाठ और उसका अनुशीलन हम सभी के लिए परम मंगलमय होगा।

शास्त्र में पुनरुक्ति

देखा जाता है कि 'वचनामृत' में एक ही बात को अनेक बार कहा गया है, लेकिन यह पुनरुक्ति-दोष नहीं है, अपितु परम कल्याणकारी है। कहा जाता है कि हमारे शास्त्र सनातन हैं। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'सएवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः' (४ ३) —'हे अर्जुन, वही पुरातन योग आज पुनः मैंने तुमसे कहा।' जो प्राचीन काल में अनेक बार कहा जा चुका है, उसकी ही गीता में पुनरावृत्ति करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं। युग युग में भगवान् स्वयं आविर्भूत हो धर्म के मूलतत्त्व की बार बार पुनरावृत्ति करते हैं। यह जो बार बार आविर्भूत हो वे एक ही सनातन तत्त्व को बार बार कहते हैं, वह पुनरुक्ति दोष नहीं है। 'शास्त्रेषु न जामिता अस्ति'—एक ही बात को बार बार कहने में शास्त्र को कोई आलस्य नहीं है, क्योंकि हमारा मन ही ऐसा है, जो बार बार सुनकर भी कुछ ग्रहण कर पाता है या नहीं इसमें सन्देह है। इसीलिए शास्त्र अनलस भाव से बार बार कहते जाते हैं। जिस प्रकार माँ सन्तान के कल्याण के लिए उसे बार बार उपदेश देती है, बार बार कहते हुए नहीं थकती, क्योंकि उससे लड़के का कल्याण होगा, ठीक यही तो भाव शास्त्रों का है। शास्त्रों का जो निष्कर्ष है, जो सार बात है, उसे शास्त्र अनेक बार अनेक प्रकार से कहते हैं। 'वचनामृत' में भी हमें यही परम्परा दिखायी देती है। ठाकुर के भानजे हृदय ने एक बार कहा था—मामा, तुम एक ही बात को बार बार क्यों

कहते हो ? ठाकुर बोले—क्यों नहीं कहूँगा ? आशय यह है कि यदि बार बार न कहा जाय, तो हम जैसे लोगों के विक्षिप्त मन पर छाप कैसे पड़ेगी ? इसीलिए उन्हें बार बार कहना पड़ता है, और हमें बार बार सुनना पड़ता है। अतः शास्त्रों में पुनरुक्ति-दोष नहीं होता। ऋषिगण भागवत में एक स्थान पर (१-१-१९) कहते हैं कि भगवान् की कथा 'स्वादु स्वादु पदे पदे'। जितना ही सुनते हैं, उतना ही हमारे अन्तःकरण में रसास्वादन करने की नयी शक्ति आती जाती है। जितने दिन व्यतीत होते हैं, जितना ही सुनते हैं, उतना ही अधिक समझ पाते हैं, उतना ही अधिक उसके भीतर निहित रस का आस्वाद पाते हैं। इसलिए भी बार बार सुनना होगा।

'वचनामृत'—अमृतस्वरूप, सहज और युगोपयोगी

अतएव जो अमृत हमें मृत्युसागर से पार कराएगा, हम उस 'वचनामृत' का आस्वादन करने की चेष्टा करेंगे। उनकी कृपा से यदि हम इसका तनिक भी मर्म ग्रहण कर सके, तो इससे हमारा जीवन सार्थक हो जायगा। यदि हम अमृत की एक बूँद भी किसी प्रकार ग्रहण कर सके, तो अमर हो जाएँगे। ठाकुर की वाणी को अमृत कहा गया है। मास्टर महाशय* को तुलना के लिए और कोई शब्द नहीं मिला, तभी तो भागवत का अनुसरण करते हुए उन्होंने

* श्री महेन्द्रनाथ गुप्त, उर्फ 'म' 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' के लेखक। यही हिन्दी में सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' द्वारा अनुवादित हो 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' के नाम से तीन भागों में प्रकाशित हुआ है।

'कथामृत' नाम दिया। इस अमृत का पान करके मनुष्य युग युग तक अमर हो जायगा। यह अमर वाणी मनुष्य के द्वार द्वार तक पहुँचेगी, मनुष्य के प्राणों में प्रवेश करेगी और उसे अमर बना देगी। इस वचन के अमृत का पान करने के लिए किसी विशेष योग्यता की आवश्यकता नहीं है। शास्त्र ग्रन्थ पढ़ने के लिए हमें विशेष योग्यता की आवश्यकता होती है। कुछ ज्ञान अर्जित कर लेने के पश्चात् ही शास्त्रों की चर्चा करने का अधिकार प्राप्त होता है। किन्तु 'वचनामृत' की चर्चा करने के लिए इस प्रकार के अधिकार की आवश्यकता नहीं है। जो कुछ भी नहीं जानते, उनके लिए 'वचनामृत' और भी सहज-गम्य होगा। अनेक प्रकार का ज्ञान मनुष्य को विभ्रान्त कर देता है, मनुष्य के संशय को बढ़ा देता है। वास्तव में 'एक 'ज्ञान' ही ज्ञान है। प्रथम दर्शन में ही मास्टर महाशय ने ठाकुर से सीखा था कि भगवान् को जानने का नाम ही ज्ञान है और न जानने का नाम अज्ञान।

यही सीखने की बात है। मास्टर महाशय के लिए यह नयी बात थी, यद्यपि वे ठाकुर के पास शुद्ध अन्तःकरण लेकर ही गये थे। यही कारण था कि ठाकुर ने उन्हें प्रारम्भ से ही अपना कहकर ग्रहण कर लिया था और इस वाणीरूपी अमृत को जगत् में वितरित करने का गुरुतर भार उनके कन्धों पर उनके अनजाने ही रख दिया था। उन शुद्धचित्त और विद्याधनी मास्टर महाशय ने ठाकुर के पास जाकर प्रथम वार्तालाप में ही यह जान लिया था कि ईश्वर को जानने का नाम ज्ञान है और उनको न

जानने का नाम अज्ञान। यदि हम दस पुस्तकें पढ़ते हैं, तो उससे हमारी बुद्धि कुछ परिमार्जित हो सकती है, पर यदि अन्तःकरण शुद्ध न हो, तो बुद्धि का यह परिमार्जन तत्त्वज्ञान के लाभ में हमारा कोई विशेष सहायक नहीं होता। 'पोथी पढ़ तोता भया, पण्डित भया न कोय।' ठाकुर कहते थे—तोता 'राधाकृष्ण' कहता है, और भी अनेक शब्द पढ़ता है, लेकिन जब बिल्ली पकड़ती है, तब टें टें करता है। तब उस समय राधाकृष्ण नहीं कहता। पाण्डित्य के द्वारा मनुष्य की बुद्धि में प्रखरता तो आ जाती है, वाक्-चातुर्य से वह लोगों को मुग्ध तो कर ले सकता है, पर उसके द्वारा संशय दूर नहीं होता। पाण्डित्य के द्वारा मनुष्य भगवान् को जान ले यह सम्भव नहीं। भगवान् को जानने का पथ भिन्न है। पाण्डित्य के द्वारा उन्हें नहीं जाना जा सकता। उपनिषद् (मुण्डक) कहता है—आत्मा को बहुत शास्त्राभ्यास के द्वारा नहीं जाना जा सकता—'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः' (३-२-३)। बहुत से शास्त्रों का ज्ञान अर्जित करके ही कोई व्यक्ति भक्त या ज्ञानी नहीं हो जाता, अपितु कई बार तो अधिक अध्ययन मनुष्य की बुद्धि को विभ्रान्त कर देता है। 'नानुध्यायाद् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्' (बृह० उप० ४-४-२१)—अधिक शास्त्रों का अध्ययन न करना, क्योंकि वह वागिन्द्रिय के लिए ग्लानिकारक है। अधिक पढ़ने से बुद्धि विचलित होती है। शास्त्राध्ययन किया जाता है बुद्धि को शुद्ध करने के लिए, प्रखर करने के लिए, लेकिन शास्त्र ही कहते हैं कि बहुत शास्त्रों के अध्ययन से परिणाम विपरीत होता है, बुद्धि

विक्षिप्त हो जाती है। भक्त वैकुण्ठनाथ सान्याल से ठाकुर ने एक दिन पूछा था, "क्या तुमने पंचदशी-वंचदशी पढ़ी है ?" सान्याल महाशय उत्तर में बोले थे, "महाशय ! मैं तो नहीं जानता कि यह किसका नाम है।" सुनते ही ठाकुर बोले, "बचा, कुछ वाचाल लड़के यह सब पढ़कर आते हैं; वे करते-धरते कुछ भी नहीं, बस, मुझे परेशान करते हैं।" कुछ किताबें पढ़कर बदहजमी हो जाने से मनुष्य पण्डित-मूर्ख होता है। वह सोचता है कि पण्डित हो गये, पर वह समझ नहीं पाता कि वास्तव में वह मूर्ख है। इसीलिए शास्त्र ही बार बार कहते हैं कि बहुत शास्त्रों का अध्ययन करके उन्हें नहीं जाना जा सकता। थोड़ा धर्मभाव आते ही मनुष्य गीता, पंचदशी, वेदान्त-ग्रन्थ यह सब पढ़ने की चेष्टा करता है। लेकिन इसका परिणाम क्या होता है ? यह कि बुद्धि भ्रमित हो जाती है। तो क्या शास्त्र न पढ़ें ? ठाकुर ने यह नहीं कहा, और न शास्त्र ही ऐसी बात कहते हैं। पढ़ेंगे, पर उसके लिए जो विवेक, जो श्रद्धा आवश्यक है, पहले वह विवेक, वह श्रद्धा अर्जित करेंगे और तब पढ़ेंगे। शास्त्र किस सीमा तक मनुष्य को भ्रमित कर देता है, यह शास्त्रों के असंख्य मतवादों को देखकर हम समझ सकते हैं। कोई कहता है—शास्त्र यह बात कहता है; कोई कहता है—नहीं, शास्त्र अन्य बात कहता है। इस बात का आज तक कोई समाधान नहीं हो पा रहा है। और फैसला न हो पाने का कारण यही है कि सभी लोग छिलके को लेकर खींचातानी कर रहे हैं, शास्त्र के भीतर जो सार वस्तु है, वहाँ

तक पहुँच नहीं पा रहे हैं। ठाकुर कहते थे--"शास्त्र में रेत और शक्कर के कणों का मिश्रण है, उनमें से केवल शक्कर के कणों को चुनना बड़ा कठिन है।"

इसीलिए हम शास्त्रों को सरलता से नहीं समझ पाते। तो फिर उपाय क्या है? उपाय है--जिनके जीवन से शास्त्र सजीव हो उठा हो, उनके जीवन के प्रकाश में शास्त्र को देखें। अन्यथा कोई उपाय नहीं है। शास्त्र को समझने के लिए यदि हम निरपेक्षभाव से चेष्टा करें--स्वतंत्र रूप से अपनी बुद्धि के द्वारा समझने की चेष्टा करें, तो यह हमारे बस की बात नहीं कि हम शास्त्र के मर्म का स्पर्श कर ले सकें, क्योंकि तब हम वहाँ केवल बातों की दाँव-पेंच ही देखेंगे और उसी प्रकार भ्रमित होंगे, जिस प्रकार अनेक पाश्चात्य पण्डित भाषाशास्त्री की दृष्टि से शास्त्रों के मर्म को प्रकट करने जाकर बुद्धि के सीमाहीन विभ्रम में पड़े हैं। यह स्वाभाविक है; क्योंकि जिस यन्त्र के द्वारा उन्होंने शास्त्रों को समझने की चेष्टा की, वह मनरूपी यन्त्र शुद्ध नहीं था। अतएव उसके भीतर से शास्त्रों का प्रकृत अभिप्राय बिलकुल प्रकट नहीं हो पाया। अत: एकमात्र उपाय यही है कि जिन्होंने अपने जीवन के आलोक में शास्त्रों को उद्भासित किया है, जिन्होंने अपने प्राण देकर शास्त्रों को प्राणवन्त बनाया है, उनके ही जीवन के आलोक में शास्त्रों को समझना होगा। अन्य और कोई उपाय नहीं है।

'वचनामृत' इस दिशा में हमारा अचूक सहायक

होगा। इसका अवलम्बन कर हम सत्य को इतनी सरलता से जान सकेंगे कि अन्य किसी उपाय से वह सम्भव नहीं। जगत् के आदिकाल से लेकर आज तक मनुष्य के सामने जितनी समस्याएँ उपस्थित हुई हैं, उनका इतना सुन्दर, इतना सहज समाधान और कहीं मिलता है या नहीं, इसमें सन्देह है। ठाकुर कहते थे—नवाबी अमल का सिक्का बादशाही अमल में नहीं चलता। फिर कहते—पहले साधारण ज्वर होता था, तब सामान्य पाचक इत्यादि देने से दूर हो जाता था; अब आजकल जैसा मलेरिया ज्वर है, उसके लिए वैसी ही 'डी० गुप्त' दवा है। तात्पर्य यह कि प्राचीन पद्धतियों से नयी समस्याओं का समाधान नहीं होता। युग बदल गया है, अनेक ऐसी समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं, जो पहले नहीं थीं। इन नयी समस्याओं के लिए कोई नया आलोक चाहिए, जिसके द्वारा इन समस्याओं का समाधान हो सके।

नारदीया भक्ति

ठाकुर के जीवन और 'वचनामृत' में हम इन्हीं नवीन समस्याओं का अपूर्व समाधान पाते हैं। कितने प्रकार से उन्होंने हमारे जीवन की समस्याओं का सहज समाधान कर दिया है, यह देखकर आश्चर्य होता है। कहते थे—आगे लोग योग-यज्ञ-तपस्या करते थे, आज कलियुग का जीव वह सब कैसे करेगा, उसके तो प्राण अन्नगत हैं, मन दुर्बल है; आज तो एकाग्र होकर मात्र हरिनाम करने से ही संसार-व्याधि दूर होगी। कहते थे—ऋषियों के समान कठोर तपस्या करने के लिए तुम्हारे

पास अब समय कहाँ है ? तुम लोग अल्पायु हो, तुम्हारे प्राण अन्नगत हैं। समय नहीं है। योग-यज्ञ का इतना विराट् आडम्बर करने की तुम लोगों को आवश्यकता भी नहीं है। क्या करने की आवश्यकता होगी, यह उन्होंने तरह तरह से बताया है। वे नारदीया भक्ति की बात कहते थे। वह किसी सम्प्रदायविशेष की भक्ति नहीं है। नारदीया भक्ति का अर्थ है—शुद्ध भक्ति, शरणागतिसंयुक्त भक्ति, जहाँ भक्त भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण कर देता है। सो कैसे करें, यह ठाकुर दिखला देते हैं। कहते हैं— माँ, मैं कुछ नहीं जानता; तुम मुझे सब बता दो, समझा दो। किस उपाय से तुम्हें पाया जाता है, वह सब साधन-भजन मैं नहीं जानता। जो करना हो वह सब मुझसे करा लो॥ यह जो सम्पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण है, इसी का नाम है, नारदीया भक्ति। आशय यह है कि उनसे कुछ भी न चाहें, केवल उनको ही चाहें। वहाँ भगवान् को उपाय बनाकर ग्रहण नहीं किया जा रहा है। अर्थात् यह उद्देश्य नहीं कि भगवान् को हम इसलिए पुकारते हैं कि वे हमारा रोग दूर कर दें, हमारी सम्पत्ति बढ़ा दें, हमारे सब आत्मीय-स्वजनों को सुखी रखें, सबको दीर्घजीवी बनावें। यह सब तो मनुष्य की स्वाभाविक आकांक्षाएँ हैं। इन आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए भगवान् से प्रार्थना करने का ठाकुर निषेध करते थे। क्यों ? कहते थे— राजा के पास जाकर क्या कोई लौकी-कुम्हड़ा चाहता है ? भगवान् यह सब देते हैं, नहीं दे सकते ऐसा नहीं, लेकिन

वे और भी तो बहुत कुछ देते हैं। वे कल्पतरु हैं। उनमे जो चाहें वही जब मिलता है, तो छोटी-मोटी चीज चाहेंगे क्यों ? एकदम उन्हीं को क्यों न चाह बैठें ? जब उन्हीं को पा जाएँगे, तो और रह क्या जायगा पाने के लिए ? 'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः' (गीता ६।२२)— 'जिसको पा लेने पर उससे और कोई बड़ा लाभ नहीं रह जाता।'

ध्रुव के उपाख्यान में है कि वह विमाता के द्वारा अपमानित हो क्षुब्ध मन मे अपनी माँ के आदेश पर तपस्या करने चला गया। क्यों ? इसलिए कि उसके पिता का जो राज्य था, वह उससे भी बड़ा राज्य चाहता था। छोटे बच्चों के मन में जैसा होता है। अभिमान को धक्का लगा था। पिता का जो राज्य है, उससे भी बड़ा राज्य चाहिए। भगवान् के पास उसने ऐकान्तिक भाव से प्रार्थना की थी। बालक की ऐकान्तिक प्रार्थना ने भगवान् को विचलित कर दिया। वे सामने प्रकट हो गये। ध्रुव से बोले, "क्या वर चाहिए ?" ध्रुव असमंजस में पड़ गया, कहने लगा, "वर ? वर तो मुझे कुछ भी नहीं चाहिए।" "यह क्या, ध्रुव !" भगवान् बोले, "स्मरण तो करो, तुम किसलिए तपस्या कर रहे हो ?" तब ध्रुव को स्मरण हो आया। बोला, "हाँ, मैंने स्थान की अभिलाषा ले, राज्य पाने की आकांक्षा ले, एक बड़े राज्य को पाने के लिए तपस्या आरम्भ की थी। लेकिन मैं जो चाहता था, उससे कहीं बहुत बड़ी वस्तु पा गया हूँ। काँच खोजते खोजते काञ्चन पा गया हूँ। मैंने बहुमूल्य वस्तु पा ली है। 'स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरं न

याचे' (हरिभक्ति सुधोदय, ७/२८)—हे प्रभु, मैं कृतार्थ हो गया हूँ, मैं और कोई वर नहीं चाहता।" इसी का नाम है अहैतुकी भक्ति, निःस्वार्थ भक्ति, नारदोया भक्ति। यह नारदीया भक्ति वैष्णवों को होगी, शाक्तों को भी होगी। केवल हिन्दुओं को नहीं वरन् अन्य धर्मावलम्बियों को भी होगी। यह न होने से आध्यात्मिक राज्य में प्रवेश का अधिकार नहीं मिलता। इस सहज बात को हम 'वचनामृत' में बार बार पाएँगे।

श्रीरामकृष्ण—जीवन और उपदेश

सर्वोपरि, हम लोग ठाकुर का जीवन देखेंगे। उनकी वाणी, उपदेश, सब कुछ उनके जीवन के द्वारा ही प्राणवन्त बने हैं। उनकी वाणी कोई साधारण वाणी नहीं है। वह सब उनके जीवन में उतरी है। उनका जीवन उनकी वाणी का उज्ज्वल दृष्टान्त है। अतः उनके जीवन पर दृष्टि डालने मे हम 'वचनामृत' को सहज में ही समझ सकेंगे। मानो इसीलिए उनका आविर्भाव इस वर्तमान युग में, इस अनिश्चयता के युग में, जिसे हम लोग, 'घोर कलियुग' कहते हैं, हुआ है। जो श्रीरामकृष्ण पर विश्वास रखते हैं, वे यह मानते हैं, तथा स्वामी विवेकानन्द भी यह कहा करते थे कि ठाकुर के जन्म के साथ सत्ययुग का आरम्भ हो गया है। यह कोई कम सौभाग्य की बात नहीं है कि ऐसे युग में हम आये हैं, जब श्रीरामकृष्ण का ज्वलन्त प्रभाव चारों ओर फैलकर छा गया है। प्रबल शक्ति का मानो एक घनीभूत रूप हम प्रत्यक्ष देख रहे

हैं। मानो सूर्य के निकट आकर हम खड़ हैं। किन्तु यह सूर्य दग्ध नहीं करता, स्निग्ध करता है। श्रीरामकृष्ण के भीतर भयदायक कुछ भी नहीं है। उनके चरित्र और वाणी के माध्यम से उन्हें देखने पर भय नहीं होगा। एक नन्हे बालक को भी भय नहीं होगा। चिमटा नहीं, जटा नहीं, भस्म नहीं, न ही किसी प्रकार का विकट हुंकार।

उनके उपदेशों में कोई ऐसी जटिलता नहीं, जो हमारे लिए दुर्बोध्य हो। उन्होंने कितना सरल बनाकर सब बातें कही हैं, जिससे हम अनायास वह सब समझ सकें, जिससे हमारा मन भ्रमित न हो। भगवान् से प्रेम करने के प्रसंग में कहते थे—किस तरह प्रेम करें ? जैसे हम माता-पिता से प्रेम करते हैं। कहते थे—तीन आकर्षण एकत्र होने से भगवान् मिलते हैं—माता का पुत्र के प्रति आकर्षण, सती का पति के प्रति आकर्षण, और विषयी का विषय के प्रति आकर्षण। हम इन आकर्षणों को समझते, हैं, क्योंकि हम सभी के जीवन में इसका कम या अधिक मात्रा में अनुभव होता ही है। ठाकुर कहते थे—इस प्रकार के आकर्षण यदि एकत्र हो भगवान् की ओर लगें, तो भगवान् मिलते हैं। इतनी सी बात को समझने के लिए बहुत अधिक शास्त्रज्ञान की आवश्यकता नहीं है।

भगवान् को पाने के लिए कोई विकट प्रकार की साधना की बात वे नहीं कहते। एक सीधी सी बात कहते। ध्यान कहाँ करें ? कहते थे—मन में, वन में, कोने में।

वन में—सब तो वन में जा नहीं सकेंगे। तो कोने में—घर के किसी कोने में बैठकर उन्हें पुकारने से भी वे आएँगे। और यदि एक कोना भी ऐसा न मिले जहाँ निर्जन और एकान्त में उनका चिन्तन कर सकें, तो फिर मन में—परिवेश के प्रति निरपेक्ष हो—पुकारने से भी वे मिलेंगे।

कोई कोई कहते—महाशय, इतना साधन-भजन करने के लिए समय कहाँ है ? ठाकुर कहते—सुबह-शाम दो बार उन्हें खूब लम्बा प्रणाम करना; प्रणाम करके कहना, 'मेरे पास तो इतना समय नहीं कि तुम्हारा चिन्तन-स्मरण कर सकूँ, अतः हे प्रभु, तुम मुझे क्षमा करो, मुझ पर कृपा करो।' कितना सरल कर दिया है—मात्र दो प्रणाम, दो बार, सुबह और शाम।

गिरीश बाबू और बकलमा

गिरीशबाबू का उपदेश देते हुए ठाकुर कह रहे हैं—देखो, सुबह और शाम उनका स्मरण-मनन करते रहना। गिरीशबाबू सोच रहे हैं—दिन में दो बार स्मरण-मनन करने का समय कहाँ है ? मैं तो कितने कार्यों में व्यस्त रहता हूँ। गिरीशबाबू को मौन देख, उसके मन का भाव समझ, ठाकुर कहते हैं—सोने और खाने के पूर्व एक बार स्मरण कर लेना। गिरीशबाबू फिर भी मौन हैं, कोई उत्तर नहीं दे पा रहे हैं। सोच रहे हैं कि मेरा तो खाने-पीने का कोई ठीक समय है नहीं, किसी दिन खाता हूँ सुबह दस बजे, तो किसी दिन सन्ध्या पाँच बजे। मामला-मुकदमा में व्यस्त रहता हूँ, ऐसी स्थिति में इन्हें वचन कैसे दूं ? फिर

ठाकुर इतना सरल कार्य करने को कह रहे हैं कि 'सकूँगा नहीं' भी कैसे बोलूँ ! हताश हो वे चुप बैठे हैं। गिरीशबाबू के मन की बात समझ ठाकुर कह रहे हैं, "तू कहेगा कि 'यह भी नहीं कर सकूँगा', तो ठीक है, तू मुझे बकलमा दे दे !" इस प्रकार हमारे लिए धर्म को इतना सहज-सरल बनाकर क्या किसी ने कहा है ? फिर यह भी हमें साथ साथ सोचना चाहिए कि उन्होंने धर्म को इतना सरल बनाकर जो कहा है, वह कोई धर्म का खिलवाड़ किया हो सो बात नहीं। इसमें किसी प्रकार का समझौता नहीं है। मिलावट कुछ भी नहीं है। यह बात गिरीशबाबू ने बहुत बाद में—ठाकुर के लीला-संवरण के बाद समझी थी और कहा था—तब क्या मैंने समझा था कि बकलमा देने के भीतर इतना अर्थ समाया हुआ है ? ठाकुर ने गिरीशबाबू को बकलम देने की वात कहने के बाद उस भाव की उपयोगी शिक्षा भी दी थी। 'लीलाप्रसंग' में लिखा है कि एक दिन गिरीशबाबू ठाकुर के सामने किसी बात पर कह उठे—"मैं करूँगा।" तब ठाकुर बोले—"यह क्या ? इस प्रकार 'मैं करूँगा' क्यों बोले ? यदि न कर सके तो ? कहो कि ईश्वर की इच्छा होगी तो करूँगा।" गिरीशबाबू तुरन्त समझ गये, सच ही तो है, जब मैंने उनको बकलमा दे दिया है, सब बात में अपना समस्त भार उन पर सौंप दिया है, तब तो फिर पूरी तरह उन पर ही निर्भर रहना चाहिए—यदि वे करने देंगे, तभी तो मैं करूँगा। बाद में गिरीशबाबू कहा करते थे—तब तो समझा नहीं था, अब देख रहा हूँ कि जिसने बकलमा दिया है, उसे पग पग पर, प्रत्येक श्वास-

प्रश्वास में देखना पड़ता है कि भगवान् की शक्ति से उसने पैर को चलाया, श्वास-प्रश्वास लिया, या इस हतभागा 'मैं' के बल पर उसने ऐसा किया !

संसार और साधना

संसार का त्याग करना होगा, यह बात वे नहीं कहते, और न ही यह कहते कि सब कुछ त्यागकर, घर-द्वार छोड़कर चले जाना होगा। एक दिन किसी ब्राह्म-भक्त ने कहा—वे अभी जो भी क्यों न कहें, बाद में एक दिन कट् से काट लेंगे। अर्थात् बाद में वे एक दिन, जिसको कहते हैं, जहरीले साँप के समान फन मारेंगे कि घर-द्वार कुछ रह न जायगा। ठाकुर बोले—ऐसा क्यों जी ! मैं तो तुम्हें घर-बार छोड़ने के लिए नहीं कहता। बस, इतना ही कहता हूँ कि संसार करो लेकिन इतना ध्यान रखकर करो कि यह संसार केवल उनका है। उन्हें पकड़कर संसार करो, जैसे हाथ में तेल लगाकर कटहल काटा जाता है, वैसे ही। इससे उसका रस चिपकेगा नहीं। संसार में रहो, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। यदि भगवान् को पकड़कर संसार में रहोगे, तो संसार का दोष तुम्हारा स्पर्श नहीं करेगा। यह हुआ ठाकुर का उपदेश। कहते हैं—खूँटे को पकड़कर चक्कर लगाओ, तब गिरोगे नहीं। जैसा कि भागवत में है, नौ योगीश्वरों में से एक—कवि—राजा निमि से कहते हैं—

यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्।

धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥११।२।३५

—इस (भागवत धर्म) का अवलम्बन करके मनुष्य कभी भी प्रमादग्रस्त नहीं होता; वह यदि आँख बन्द करके

दोड़, तो भी नहीं गिरेगा। ठाकुर कहते थे—जिस बालक का हाथ पिता ने स्वयं पकड़ रखा हो या जिसे वह गोद में उठाकर ले जा रहा हो, उसे भय नहीं है। वह अनायास हाथों से ताली बजाते हुए जा सकता है। और जो बालक स्वयं पिता का हाथ पकड़कर चल रहा है, उसके गिर पड़ने का भय बना रहता है। कभी अन्यमनस्क हो हाथ से ताली बजाने में शायद गिर पड़े। उनका अवलम्बन करना, उनके चरणों में सर्वस्व समर्पण कर देना, अपना भार उन पर छोड़ देना—यही भाव हम 'वचनामृत' में बहुत स्पष्ट रूप में पाते हैं।

कर्म, ज्ञान और भक्ति का सामंजस्य

ठाकुर ने जैसे भक्ति की बात कही है, वैसे ही साथ साथ ज्ञान की—चरम ज्ञान की बात भी कही है। वेदान्ती अपनी बुद्धि की सहायता से वेदान्त-विचार की जितनी दूरी तक जा सकता है, वह तो हम ठाकुर की वाणी में ही अति सहज रूप से पा लते हैं। ठाकुर कहते थे—तुम्हारे वेदान्त में यही तो है न—अस्ति, भाति और प्रिय ! इस अस्ति, भाति और प्रिय को लेकर तुम विचार कर रहे हो। तात्पर्य तो यही है, सार बात तो यही है—कि वे हैं, वे प्रकाशित हैं और वे हमारे प्रिय हैं। इतनी सी बात को समझ लने से ही तो तुम्हारा टोकरी-टोकरी वेदान्त का कार्य हो गया। बात तो ठीक है, पर इस प्रकार कहने से हमारी बुद्धि का प्रदर्शन तो हो नहीं पाएगा। हम कितने बड़ पण्डित हैं, यह दिखाने के लिए हमें पूर्वपक्ष दिखाना होगा, सिद्धान्त दिखाना होगा, फिर उलटकर सिद्धान्त को

पूर्वपक्ष बनाकर, पूर्वपक्ष को सिद्धान्त बनाकर प्रतिष्ठित करना होगा। हाँ को ना करना होगा, ना को हाँ करना होगा। यह सब नहीं किया तो फिर पण्डित काहे का? ठाकुर कहते थे—उस सबका तुम्हें क्या प्रयोजन? तुम्हें तो बस किसी प्रकार अहंकार को नष्ट करना है। यह छोड़ ज्ञानी और करता क्या है? 'मैं मरै छूटै जंजाल।' अतः इस अहंकार को चाहे जिस प्रकार से हो नष्ट करो। ज्ञान के माध्यम से हो, चाहे भक्ति के माध्यम से, चाहे कर्म के माध्यम से हो या फिर चाहे सबको मिलाकर हो। ठाकुर उपमा देते हैं सुनार की। सुनार सोना गलाते समय कमर कसकर भिड़ जाता है। एक हाथ में धौंकनी, एक हाथ में पंखा, मुँह में फूँकनी—जब तक आग तेज होकर सोना गल नहीं जाता। इसी प्रकार भगवान् के लिए जब मनुष्य के अन्तःकरण में प्रबल उत्कण्ठा जागृत होती है, तब वह सब प्रकार से एवं प्राणपण से भिड़ जाता है, जब तक कि सोना गल नहीं जाता, अर्थात् जब तक वस्तुलाभ नहीं हो जाता। यह हुआ सीधी-सादी भाषा में ठाकुर का उपदेश। वे इन बातों के माध्यम से कर्म, भक्ति और ज्ञान में कैसा अपूर्व सामंजस्य ला दे रहे हैं, यह हम 'वचनामृत' में देखते हैं। अपूर्व सामंजस्य है, जिसे यदि ठाकुर की दृष्टि से हम नहीं देखते, तो हमें चिरकाल के लिए संसार में डूबे रहना पड़ता। पण्डितों ने तो कब आदिम-युग से जो दार्शनिक विचार शुरू किया, आज तक वह समाप्त नहीं हुआ कि ईश्वर अद्वैत है या द्वैत, या कि विशिष्टाद्वैत; वह एक है कि अनेक, सगुण है कि निर्गुण,

साकार है कि निराकार; यदि साकार है तो उसके चार हाथ हैं कि दस हाथ या कि हजार हाथ। समस्या का कोई अन्त नहीं। इन सब समस्याओं की सुन्दर मीमांसा हम 'वचनामृत' में पाते हैं—इतना सहज समाधान कि हम सभी समझ सकते हैं।

आजकल हम लोग सर्वजनीनता की बात कहते हैं। कहते हैं कि सबके लिए उपयोगी हो ऐसी सब चीजें देनी होंगी। ठाकुर के उपदेशों के समान ऐसा सर्वजनीन उपदेश खोजने पर भी मिलना कठिन है। उनके उपदेश पण्डित और मूर्ख दोनों को तृप्ति देते हैं; भक्त, ज्ञानी और कर्मी सबको समान रूप से उद्‌बुद्ध करते हैं—नास्तिक तक को छोड़ते नहीं। यदि कोई नास्तिक हो, ईश्वर है या नहीं इस पर संशय हो, तो ठाकुर कहते हैं—तुम ऐकान्तिक भाव से उनसे प्रार्थना करो, वे ही समझा देंगे कि वे हैं या नहीं। नास्तिक तक को ठाकुर वंचित नहीं करते—उसकी उपेक्षा नहीं करते।

'वचनामृत' में हम उनकी अभयवाणी पंक्ति पंक्ति में पाते हैं। देखता हूँ, वे किस प्रकार सब समय हमें साहस प्रदान कर रहे हैं। हमारे भीतर जितनी त्रुटियाँ हैं, जितनी अपूर्णताएँ हैं, वह सब देखकर भी वे हमारी उपेक्षा नहीं कर रहे हैं, बल्कि किस प्रकार हम इन त्रुटियों से, अपूर्णताओं से मुक्त होंगे इसका सहज सरल उपाय बतला दे रहे हैं। एक दृष्टान्त कहें—स्वामी योगानन्द (तब योगीन्द्रनाथ रायचौधुरी) ने ठाकुर से पूछा कि काम किस

तरह दूर होगा ? ठाकुर बोले—खूब हरिनाम करना, उसी से दूर हो जायगा। ठाकुर का यह उत्तर बिलकुल योगीन के मन के लायक नहीं था। वे सोचने लगे—यह क्या उपदेश दिया इन्होंने ! ऐसा लगता है कि ये कोई क्रिया-विया नहीं जानते, इसीलिए कुछ भी बोल दिया। हरिनाम करने से कहीं काम दूर होगा ? अगर ऐसा होता, तो इतने लोग तो भगवान् का नाम ले रहे हैं, फिर उनका काम दूर क्यों नहीं होता ? बाद में सोचने लगे, ठाकुर जब कहते हैं, तो क्यों न एक बार करके देखा जाय, देखें क्या होता है। यह सोच वे एकाग्र मन से खूब भगवन्नाम करने लगे और सचमुच थोड़े दिनों में ही ठाकुर ने जैसा कहा था, वैसा ही प्रत्यक्ष फल प्राप्त किया।

अनेक स्थानों पर अधिकारी-भेद के अनुसार ठाकुर के उपदेशों में पार्थक्य देखा जाता है—जिसके लिए जो हितकर हो, उससे वही कहते थे। लेकिन किसी भी स्थान पर उन्होंने अतिशयता की बात नहीं कही। अतिशय रूप से कुछ करने के लिए—जैसे कृच्छ्रसाधन (शरीरपीड़न), जिससे असाधारणता दिखायी दे—ऐसा कुछ उन्होंने कभी नहीं कहा। बल्कि कहते थे—असाधारणता कुछ भी न रखना, सामान्य रूप से रहना। और वे स्वयं सहजता और सरलता के दृष्टान्त हैं। जटा नहीं, भस्म नहीं, चिमटा नहीं, साधु के ऐसे कोई बाह्य चिह्न नहीं, जो सर्वसाधारण से उन्हें भिन्न बना दे। लेकिन जो उनके निकट आ रहे हैं, जितना ही उनके समीप जाते हैं, वे देखते हैं कि ठाकुर उतने ही दूर हैं; जितना ही उनकी ओर बढ़ते हैं, उतना ही उनके भीतर

की विशालता का परिचय पाते हैं। यह उनकी अद्भुत विशिष्टता है।

ठाकुर जैसे सहज हैं, उनके उपदेश भी वैसे ही सहज हैं। इन सहज उपदेशों के द्वारा वे हमें खींच रहे हैं। भगवान् को पाने का पथ उन्होंने सरल कर दिया है, सुगम कर दिया है, इसका निरन्तर प्रमाण हमें 'वचनामृत' में प्राप्त होता है।

'वचनामृत'—परिचय और अभिप्राय

जिस ग्रन्थ को हम पढ़ना चाहते हैं, उसका प्रतिपाद्य विषय ग्रन्थ को पढ़ने के पूर्व ही हमें संक्षेप में जान लेना चाहिए। विषयवस्तु को जान लेने की इच्छा स्वाभाविक ही है। 'वचनामृत' की विषयवस्तु क्या है? 'वचनामृत' की विषयवस्तु है भगवान् और भगवान् को पाने का उपाय। किस उपाय से हमारा भव-बन्धन कटेगा; किस उपाय से हम इस संसार-व्याधि से मुक्त होंगे; यह जो जन्म-जन्मान्तरों से अँधेरे में घूम रहे हैं, उस अन्धकार से निवृत्ति किस उपाय से होगी; हमारे मन के सारे संशय कैसे दूर होंगे; हम लोग संसार के समस्त काम-काज के बीच रहकर भी किस प्रकार भगवन्मुखी हो अपार शान्ति के अधिकारी होंगे—यही सब। हम यह सब ठाकुर के उपदेशों में पाएँगे तथा हमारी व्यक्तिगत रुचि और रुझान चाहे जिस प्रकार की क्यों न हो, हम चाहे ज्ञानप्रवण हों, चाहे भक्तिप्रवण हों या चाहे कर्मप्रवण, हम सभी 'वचनामृत' में पथ का निर्देश पाएँगे—अपूर्व प्रेरणा पाएँगे।

'वचनामृत' का परिचय देते हुए 'वचनामृत' के लेखक श्री 'म' (महेन्द्रनाथ गुप्त उर्फ मास्टर महाशय) श्रीमद्-भागवत का एक श्लोक उद्धृत करते हैं। 'भूमिका' में हम उसकी चर्चा कर सकते हैं। वह श्लोक है—

> **तव कथामृतं तप्तजीवनं**
> **कविभिरीडितं कल्मषापहम्।**
> **श्रवणमंगलं श्रीमदाततं**
> **भुवि गृणन्ति ये भूरिदा जनाः ॥१०।३१।६**

—तुम्हारा यह जो वाणीरूप अमृत है, वह कैसा है? 'तप्तजीवनम्'—संसार के ताप से जो मनुष्य तप्त है, दग्ध हो मृतप्राय हो रहा है, जलकर जो मनुष्य मर रहा है, उसके लिए जलस्वरूप है। यह वाणीरूप अमृत उसकी समस्त पीड़ाओं को शान्त करता है, उसे जन्म-मृत्यु के हाथ से, संसार-चक्र से बचा लेता है। इसके पश्चात् कहते हैं—'कविभिरीडितम्'—जो कवि अर्थात् ज्ञानी हैं, शास्त्र के मर्म को जानते हैं, वे इस 'वचनामृत' की प्रशंसा करते हैं। वे सर्वदा इस 'वचनामृत' की यह कहते हुए स्तुति करते हैं कि यह 'वचनामृत' मनुष्य को मृत्यु के हाथ से बचाता है—उसे यह ज्ञान प्रदान करता है कि मनुष्य मरणशील नहीं है। और भी कैसा है यह 'वचनामृत'? 'कल्मषापहम्'—हमारी समस्त कालिमा, पाप, कलुष यह 'वचनामृत' दूर कर देता है। संसार में हमने कितनी कालिमा लगा ली है; ऐसा कोई दावा करके नहीं कह सकता कि हमारी देह में कालिख नहीं लगी है। तो इस कालिमा से मुक्त होने का उपाय क्या है? सम्भव है अनेकों को अनुताप होता हो कि इस

कालिमा से मुक्ति पाने का कोई उपाय नहीं है। इसीलिए कहते हैं—उपाय है, यह 'वचनामृत' 'कल्मषापहम्' है। केवल इतना ही नहीं, पुराणों में तो कहा गया है कि अमृत का पान करने से ही अमरत्व प्राप्त होता है, पर यह ऐसा अमृत है, जिसे पीने की आवश्यकता नहीं, केवल सुनने से ही जीव का कल्याण होता है—'श्रवणमंगलम्'। अब यदि मन में यह प्रश्न उठे कि अच्छा, सुनने से ही कल्याण होता होगा, लेकिन यदि हमें सुनने में रुचि न हो तो ? तो इसके उत्तर में कहते हैं—'श्रीमद्'—सौन्दर्यविशिष्ट, इस वाणी में ऐसी सुषमा है, जो मनुष्य का अनायास ही—स्वाभाविक रूप से आर्कषित कर लेती है। और यह 'वचनामृत' इतना थोड़ा नहीं कि समाप्त हो जावे। इसलिए कहते हैं—'आततम्'—विस्तृत। विस्तृत कहने का तात्पर्य है अपार और सहजलभ्य। जैसे आकाश चारों ओर विस्तृत है, उसे खोजकर निकालना नहीं पड़ता। जैसे वायु चारों ओर परिव्याप्त है, उसको ढूँढ़कर आविष्कृत नहीं करना पड़ता, उसी प्रकार यह वाणीरूपी अमृत अपार एवं सहजलभ्य है। तो फिर हम सभी क्यों नहीं इस 'वचनामृत' का पान करते? इसके उत्तर में कहते हैं—'भुवि गृणन्ति ये भूरिदा जनाः'—जिन लोगों ने बहुत दान किया है, अर्थात् बहुत पुण्य संचित किया है, उनकी इस 'वचनामृत' के प्रति स्वाभाविक रुचि होती है। वे ही इसकी स्तुति करते हैं, कीर्तन करते हैं, चर्चा करते हैं। रुचि किसी को होती है, किसी को नहीं। इसका कारण है पूर्व जन्म में किये गये कर्म। पूर्व पूर्व जन्मों में किये गये यदि अनेक पुण्य संचित हों, तो मनुष्य जन्म से

ही ऐसी रुचि लेकर आता है। उसके लिए यह रुचि सहज रूप में रहती है। पर सुकृति यदि कम हो, तब तो संसार में सम्भवतः कोई आघात लगने पर इस 'वचनामृत' की ओर रुचि होती है। इस प्रकार विभिन्न स्तर के लोग हैं। फिर भी उन सभी के लिए यह 'वचनामृत' कल्याणकारी हैं। इस 'वचनामृत' का अनुशीलन करना कोई बहुत कठिन कार्य है, ऐसी बात भी नहीं। रुचि रहने से ही सब लोग आनन्द पाएँगे।

इस श्लोक को मास्टर महाशय ने 'कथामृत' लेखन के प्रारम्भ में ही उद्धृत किया है। ग्रन्थ का नाम उन्होंने 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' क्यों रखा, यह बात वे मानो भागवत के इस श्लोक को उद्धृत करके ही समझा देते हैं। जिन्होंने श्रीरामचन्द्र के रूप में जगत् के कल्याण के लिए सबको उपदेश दिये हैं, उन्होंने श्रीकृष्ण के रूप में अनेक प्रकार से उपदेश दिये हैं, जिनका सार हम गीता और भागवत में पाते हैं। वे ही फिर से श्रीरामकृष्ण के रूप में अब सबके लिए सहजबोध्य यह 'वचनामृत' प्रदान करते हैं। मास्टर महाशय ने जो श्लोक उद्धृत किया, उससे उनका यही अभिप्राय होना चाहिए ऐसा हम समझते हैं।

●

तुरीयानन्दजी के सान्निध्य में (९)

(स्वामी तुरीयानन्दजी भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के संन्यासी-शिष्यों में अन्यतम थे। उनके कथोपकथन बँगला मासिक 'उद्‌बोधन' में यत्र-तत्र प्रकाशित हुए थे। उन्हें संग्रहित कर हिन्दी में अनूदित करने का कार्य रामकृष्ण मठ, नागपुर के स्वामी वागीश्वरानन्द ने किया है। —स०)

स्थान—रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, काशी

१६ जुलाई, १६२०

किसी ने आकर कहा, "चमेलीपुरीजी ने देह त्याग दी है।"

स्वामीजी—कब ?

भक्त—कल तीसरे प्रहर।

स्वामीजी—और कोई समाचार कोई जानता है ? आयु भी कम नहीं थी—एक सौ आठ वर्ष के हो चुके थे। उसी बगीचे में साठ वर्ष निवास किया था। कैसा तेज था उनमें ! लँगोट के पक्के थे न ! मैं एक बार मिलने गया था। सुना—कह रहे थे, 'शिव केदार !' 'शिव केदार !' कितने जोरों की पुकार थी। इन लोगों की मृत्यु, जैसे पक। फल पेड़ पर से सहज ही टप से गिर पड़ता है, वैसी ही होती है। कष्ट नहीं होता। मेरी आयु अभी अट्ठावन वर्ष की हुई—इसी से मुझे संसार कितना पुराना प्रतीत हो रहा है। लगता है, कितना पुराना है यह सब ! फिर उनकी

आयु देखो—एक सौ आठ वर्ष—प्राय: मुझसे 'डबल'। संसार कितना पुराना लगता होगा उन्हें! काशी की कितनी ही पुरानी घटनाएँ जानते थे। ×-बाबू ने करीब तीन-चार साल तक उनकी सेवा की थी। मुझसे ×-बाबू ने कहा था—जब वे पहली बार चमेलीपुरीजी से मिले, तब चमेलीपुरीजी ने कहा था—'आज सारा दिन भूखा हूँ। माँ ने तुम्हारे साथ क्या भेजा है दो, खाऊँगा।' तब से ×-बाबू ही उनका भोजन जुटाते आ रहे हैं। ×-बाबू के सहकारी पण्डितजी भी चमेलीपुरीजी के यहाँ जाते थे। पण्डितजी की नाक बड़ी लम्बी है। लम्बी नाक किस बात का लक्षण है बता सकते हो? नेपोलियन की जीवनी में नहीं पढ़ा? नेपोलियन ने कहा है, 'अगर लम्बी नाकवाले कुछ आदमी मुझे मिलते, तो मैं सब कुछ कर सकता था।' लम्बी नाक अत्यन्त अनुगत विश्वासी व्यक्ति का लक्षण है।

"यहाँ पर ऋषिघाट के पास मगनीबाबा नाम के और एक साधु हैं। उनकी भी आयु काफी हो चुकी है। दीर्घकाल से काशी में हैं। नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। अच्छे पण्डित हैं, पर पुराने ढर्रे के। उनका विद्वत्संन्यास हुआ है। खून में तेज खूब है। भारी भारी बीमारियाँ होती हैं, पर अच्छे हो जाते हैं। एक बार बड़ी कठिन बीमारी हो जाने से ब्रह्मचारी के लिए जो नित्यकरणीय क्रियाकलाप होते हैं, उन्हें करने में असुविधा होने लगी। तब गंगा-किनारे जाकर शास्त्रविधि के अनुसार स्वयं अपने ही हाथ से संन्यास ले लिया। मैंने कुछेक बार उन्हें देखा है। सदा भाव में मगन रहते हैं। सम्भवत: इसीलिए उनका नाम पड़ा है

मगनीबाबा। पुराने ढर्रे के जीवन-यापन में गुण भी हैं और दोष भी काफी हैं। सबसे पहले ×-बाबू ने उन्हें गुरु माना था। गुरुपूर्णिमा के दिन पूजा करने गये थे। पर बाबा ने उन्हें दीक्षा-वीक्षा कुछ नहीं दी।

"आज हीरानन्द की जीवनी पढ़ रहा था—सुन्दर लगी। वह भी ठाकुर ही का शिष्य जो था। ठाकुर उसे बहुत प्यार करते थे। ठाकुर की व्याधि के समय सिन्ध से वह आया था। मिठाई और ठाकुर के लिए ढीला पैजामा ले आया था। ठाकुर ने एक दिन पहना था। एक बार ठाकुर ने हीरानन्द को स्वामीजी (विवेकानन्दजी) के साथ तर्क में लगा दिया। स्वामीजी ज्ञान का पक्ष लेकर बोले, हीरानन्द ने भी भक्ति का पक्ष लेकर सुन्दर कहा—उसने तर्क नहीं किया। हीरानन्द केशवबाबू का शिष्य था।"

सामने के मैदान में पक्षियों को आहार की खोज में घूमते देख महाराज बोले—

"अभी बच्चे हुए हैं न, इसीलिए आहार ढूँढ़ते फिर रहे हैं। देखो न, कितना अद्भुत है! खुद न खाकर बच्चे के लिए ले जाएँगे। फिर बच्चा थोड़ा बड़ा हुआ कि उसे ठोकर मारकर भगा देंगे। महामाया का कार्य करते जा रहे हैं। देखो महामाया किस प्रकार अपना कार्य करा ले रही हैं। 'अपना काम आप करती तुम, लोग कहें 'मैं' भ्रम का मारा।' पक्षियों के शरीर भोग-शरीर हैं, उनके क्रियमाण कर्म नहीं हैं। इस शरीर का अन्त हुआ कि फिर सञ्चित में से कुछ लेकर तदनुरूप भोग-शरीर धारण करेंगे। उनके लिए भले-बुरे का बन्धन नहीं है, इसीलिए पाप-पुण्य नहीं

हैं। पर बुद्धिवृत्ति उनमें ठीक ही है। केवल मनुष्य के ही क्रियमाण कर्म है। उसमें एक प्रकार का भले-बुरे का बोध है न, इसी से बन्धन का बोध है। अन्य जीवों में यह नहीं है। बन्धन का बोध हो तभी मुक्ति के लिए ठीक ठीक प्रयत्न हो सकता है। देखो न, किसी आदमी को जेल में बन्द कर रखने पर वह छुटकारा पाने के लिए कितने ही प्रयत्न करता है। संसार एक बन्धन है यह बोध होने पर ही तो कोई मुक्ति के लिए प्रयत्न करेगा। यह न समझ पाने ही के कारण जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता जाता है।

"ठाकुर होमा पक्षी की बात कहते थे—जानते हो न ? जैसे ही आँखें खुलीं और ज्ञान हुआ कि मैं जमीन पर गिरने जा रहा हूँ, वैसे ही सीधे ऊपर की ओर उड़ने लगता है। ऐसा हो तभी बचाव है। ऐसे अनेक लोग पाये जाते हैं, जो चैतन्य होते ही ऊपर की ओर चल देते हैं।

"ठाकुर कहते थे—पक्का खिलाड़ी खेलना पसन्द करता है, वह खेल से छुट्टी नहीं पाना चाहता। इस पर मैंने कहा था—जिसे खेलना अच्छा लगता है लगे ! मैं क्यों खेलूँ ? ठाकुर ने तब धमकाते हुए कहा—यह क्या ! तू कह क्या रहा है ? तू तो बड़ी स्वार्थपूर्ण बात कह रहा है। खेलने ही में तो सुख है। तूने चौसर का खेल नहीं देखा ? पक्का खिलाड़ी पक्की गोटी को फिर कच्ची बनाकर खेलता है। फिर ज्योंही चाहा त्योंही 'पौबारा' कहकर दाव फेंकता है और फिर गोटी पका लेता है। इस पर मैंने पूछा—क्या यह भी सम्भव होता है, महाराज ? वे बोले—क्यों

नहीं होगा ? होता है रे, वैसा होता है। लोग इधर ईश्वर को तो नहीं मानते, पर यदि गले में मछली का काँटा अटक जाए तो बिल्ली के पाँव पकड़ते हैं, खजूर के पेड़ को प्रणाम करते हैं। और ऐसा आदमी कहता है कि मैं ईश्वर पर विश्वास नहीं करता ! तू क्या कहता है ? आदमी इतना तो ज्ञान-ज्ञान करता है, पर ईश्वर ने ऐसी नींद दे रखी है कि उस समय अगर मुँह में कुत्ता मूत दे तो भी ज्ञान नहीं होता !

"कैसी सुन्दर बातें कहते थे ! गोविन्द ! गोविन्द !"

२० जुलाई, १९२०

अभी अभी खबर आयी कि माताजी (सारदादेवी) की स्थिति क्रमशः बिगड़ती ही जा रही है। पत्र महाराज को पढ़कर सुनाया गया। महाराज कुछ देर गम्भीर रहे। फिर बोले—

"इस संसार में प्रत्येक वस्तु के अवयवों का विघटन होता है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं दिखेगी, जिसका विघटन न होता हो। मरना क्या है ? —यही विघटन, दूसरा कुछ नहीं। हमारे शास्त्रकारों ने कहा है—जिसकी उत्पत्ति हुई है, उसका नाश भी निश्चित है। 'जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति'—यही तो यास्कमुनि का मत है। जो भी वस्तु उत्पन्न होगी—जीव-जन्तु वृक्ष-लतादि जो भी—वही इस बहुविध परिणति के अधीन होगी। देखा न, इस संसार में कहीं इस नियम का क्या व्यतिक्रम हो रहा है ? हमारे शास्त्रकार इन विषयों की चरम सीमा तक

मीमांसा कर गये हैं। पुनर्जन्मवाद बड़ा अपूर्व है। ईसाइयों में ऐसा कुछ नहीं है। उनका मत है—मृत्यु के पश्चात् मनुष्य की आत्मा बहुत दिनों तक उसकी कब्र में रहती है। फिर संसार का प्रलय हो जाने पर ईसामसीह भगवान् के दाहिनी ओर बैठकर सबका न्याय करेंगे। दूतगण सभी आत्माओं को उनकी कब्रों से ले जाएँगे। जिनके बारे में ईसा कहेंगे कि इसे मैं जानता हूँ, उन्हें स्वर्ग में भेज दिया जाएगा और जिनके सम्बन्ध में वे कहेंगे कि मैं इसे नहीं पहचानता, उन्हें अनन्तकाल के लिए नरकवास भोगना होगा। कैसी भयंकर बात है देखो! उन देशों में कई सरल विश्वासयुक्त माताएँ, यदि 'बैप्टिज्म' (बप्तिस्मा) होने के पहले ही उनकी कोई सन्तान मर जाये तो उसके लिए रो-रोकर परेशान हो जाती हैं। कारण, प्रोटेस्टेंट लोग सोचते हैं कि जिसका बैप्टिज्म नहीं हुआ, उसे अनन्तकाल तक नरकवास करना पड़ेगा। रोमन कैथलिकों के एक 'पर्गेटरी' (मृत्यु के बाद पापों के प्रायश्चित्त के लिए स्थान) होती है। वे लोग कहते हैं कि पर्गेटरी में से होते हुए ऐसी आत्माएँ भी स्वर्ग में जा सकती हैं। वेदान्त ने उन्हें कितना बचा लिया यह वे ही जानते हैं।

"पुनर्जन्मवाद का तत्त्व सुनकर वे लोग कह रहे हैं कि यह अत्यन्त युक्तिसंगत मत है; क्योंकि इस मत के अनुसार सभी को सुधरने, अच्छा बनने के लिए अवसर है। इस जन्म में नहीं हो सका, तो दूसरे में सुधरेंगे। स्वामीजी ने कितना विलक्षण कार्य किया। यहाँ बैठकर तुम उसका कुछ भी नहीं समझ पा रहे हो। उन लोगों की

समूची विचारधारा ही को उन्होंने बदल दिया। इसके बाद ही 'New Thought Movement'[१] खूब जोरों से चला। उनके दर्शन की क्या कभी हिन्दुओं के दर्शन से तुलना हो सकती है! अरे बाबा, जितने प्रकार की समस्याएँ हो सकती हैं, उन सबकी चरम मीमांसा हमारे ऋषि-मुनियों ने कर रखी है।

"अलमोड़ा में रहते समय वहाँ के बड़े पादरी लोग फ्रंक (Furnk) से कहते थे, 'हम लोग जो कुछ नहीं कर पा रहे हैं उसका कारण है हिन्दुओं का दर्शनशास्त्र—ऐसा विलक्षण दर्शन दूसरा नहीं है।' फ्रंक बेचारा बड़ा ही 'फ्रैंक' (सरल) था। स्वामीजी की जीवनी के पहले तीन खण्ड उसी ने लिखे। एक बार इलाहाबाद में उसने भाषण दिया था। इस समय मैं भी इलाहाबाद में था। बेचारा बड़ी कम उम्र में चल बसा।

"हमारे शास्त्रकार एकत्व में जा पहुँचे। क्या इसके भी ऊपर जाया जा सकता है? स्वामीजी ने कहा है—रसायनशास्त्र यदि ऐसी कोई वस्तु ढूँढ़ निकाल सके, जो आदि मौलिक वस्तु हो, तो समझ लो कि रसायनशास्त्र चरम उन्नति को प्राप्त हो गया, इसके ऊपर वह नहीं जा सकता। हार्वर्ड व्याख्यान की भूमिका जिन साहब ने लिखी,

---

१. वेदान्त की छाया का अवलम्बन कर अमेरिका में प्रतिष्ठित एक सम्प्रदाय। उसके अनुयायियों का कथन है, जब आत्मा ही एकमात्र सत्य है तब रोग-शोक आदि का कोई अस्तित्व नहीं है—इस प्रकार चिन्तन करने के फलस्वरूप रोग-शोक आदि से मुक्त हुआ जा सकता है।

उन्होंने कहा है—स्वामीजी के उपदेशों से यद्यपि हम लोग सम्पूर्णतया अन्य मतावलम्बी नहीं बन गये, फिर भी हम मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं कि उनका यह एकत्व का भाव हमारे लिए बिलकुल नवीन है और हमें वह बहुत अच्छा लगा है।

"विचारशीलता जितनी बढ़ती जा रही है, उतना ही लोग बाइबिल को कम मान रहे हैं। इमर्सन से उनका एक Unitaria (एकेश्वरवादी) दल बन गया। उनके भी कई सुन्दर धर्मग्रन्थ हैं। कार्लाइल बाइबिल को काफी हद तक रखने की कोशिश कर रहे हैं—वे वीर-पूजक हैं न, इसलिए। वरना उनका दर्शन वाइबिल को नहीं मानता। उस दिन 'बंगाल काउन्सिल' में दत्त को नहीं देखा ? उन्होंने बाइबिल के 'कोई एक गाल पर चपत लगाए तो दूसरा गाल भी उसके आगे कर देना' इस वचन पर पाश्चात्यों में किसकी कितनी श्रद्धा है, यह स्पष्ट कर दिया ! उनके अकेले का ही नहीं, प्रायः सभी का वही मत है। यूनिटेरियन लोग कहते हैं, अगर ईसामसीह ईश्वर के पुत्र हों तो फिर हम लोग भी वही हैं। वे लोग किस पथ पर चल रहे हैं यह इसी युद्ध में स्पष्ट दीख पड़ा। केवल भोग के मार्ग में—केवल जड़वाद के मार्ग में क्या 'श्रेयः' है ?

"देखो न, तुलसीदासजी ने कैसा सुन्दर कहा है—

जहाँ राम तहँ काम नहि, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहूं होत नहि, रवि रजनी इक ठाम॥

अर्थात्, जहाँ कामना है, वहाँ भगवान् नहीं होते और जहाँ भगवान् हैं, वहाँ कामना नहीं होती। सूर्य और रात्रि कभी एक साथ नहीं रह सकते।

"पर देखो न, बंगाल में एक दल के लोग योग और भोग को एकत्र लाने के लिए कैसे लगे हुए हैं !"

एक व्यक्ति ने कहा—" 'प्रवर्तक' में एक प्रबन्ध पढ़ा, जिसमें तुलसीदासजी के 'जहाँ काम' आदि वचन का खण्डन करते हुए और शंकराचार्यजी पर कटाक्ष करते हुए लिखा है। 'नारायण' में अनन्तानन्द ब्रह्मचारी का पत्र प्रकाशित हुआ है, उसमें भी योग और भोग के एकीकरण की चेष्टा है। वह प्रबन्ध अधिक लम्बा नहीं है, पढ़ूँ ?"

स्वामी तुरीयानन्दजी बोले—"पढ़ो न।"

वैशाख के 'नारायण' अंक में से उक्त प्रबन्ध पढ़ा गया। सुनकर स्वामी तुरीयानन्दजी बोले—

"आखिर की ओर अच्छा लगा। परन्तु माया के सम्बन्ध में उनका कोई ज्ञान नहीं है। दर्शन का चरम तत्त्व है मायावाद। पर वे वेचारे शंकराचार्य के ग्रन्थ न पढ़ेंगे, न सुनेंगे, पर इधर उन पर व्यंग्य जरूर करेंगे। शंकराचार्य ज्ञानगुरु हैं। बिना किसी कारण के उन्हें गालियाँ देने से क्या इनका भला होगा ? गीता में से दो श्लोक उद्धृत किये हैं, पर जिस अर्थ में उन श्लोकों का उपयोग किया है, वह ठीक नहीं हुआ। कुछ अच्छी बातों के साथ गलत बातें भी खपा रहे हैं, साधारण लोग इसे खूब ले भी रहे हैं। 'प्रवर्तक' का तो मैं कुछ भी नहीं समझ पाता। सच कहता हूँ, वे क्या कहना चाहते हैं मैं कुछ समझ नहीं पाता। वे स्वयं भी कुछ समझते नहीं, सुनते नहीं, और ऊपर से शंकराचार्य को गालियाँ देते हैं।

"तुम लोगों ने तो शास्त्र पढ़े हैं। तुम लोग अखबारों

में लिखते क्यों नहीं ? झगड़े से इतना डरते क्यों हो ? सत्य बात कहने में इतना डर क्यों ? यहाँ बैठकर भी तो झगड़ा हो ही रहा है—यही बात कागज में लिखने से काम हो जाता है। तुम्हें शंकराचार्यजी से कितनी सहायता मिल रही है; और तुम हो कि ये सब नाहक की गालियाँ बैठ-बैठकर सुन रहे हो।

"देखा, वे लोग क्या कहते हैं—शंकराचार्य ने तो ऐसा कहीं नहीं कहा कि वन में जाकर बैठे रहो। उन्होंने स्वयं कितने कार्य किये। उनकी जीवनी को अच्छी तरह से देखो न। हम जो संसार में आ पड़े हैं—संसार छोड़कर जाएँ कहाँ ! किन्तु जगत् का भला करना ही चरम उद्देश्य नहीं है। जगत् जैसे का वैसा ही रह जाएगा। स्वामीजी कहते थे—जगत् तो कुत्ते की पूँछ-जैसा है; तथापि जगत् की भलाई करते हुए तुम स्वयं भले बन जाओ, मुक्त हो जाओ।

"शंकराचार्य ने जब विचार किया है, तब विपक्ष के सभी मतों को खचाखच काट दिया है। किन्तु वे विश्वास-पूर्वक शक्ति-उपासना करते थे। उनकी स्तव-स्तुतियाँ इस बात का प्रमाण है। 'शंकरविजय' में भी लिखा है कि उन्होंने पंचोपासना प्रवर्तित की। ठाकुर कहते थे—शक्ति की पूजा किये बिना कोई प्रचारक नहीं बन पाता। शंकराचार्य को समझने के लिए अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता है। वरना बिना समझे-बूझे गालियाँ दी जाती हैं।"

२१ जुलाई, १६२० (सायं ५ बजे)

आज सबेरे माताजी के देहत्याग का समाचार

आया। माताजी के कई शिष्य यहाँ उपस्थित हैं। सभी विपन्न हैं, नीरव हैं। इस समाचार के फैलते ही आश्रम का कर्म-कोलाहल मानो एकाएक कहाँ विलीन हो गया। महाराज धीर, गम्भीर बने हुए हैं। आज वैसा वाक्स्फुरण नहीं हो रहा है। स्वास्थ्य भी ठीक नहीं है। अभी तक कुछ खाया नहीं। बचपन से लेकर अब तक की जाने कितनी स्मृतियाँ उनके मानसनेत्रों के सामने प्रकट हो रही हैं—यह कौन बता सकता है? कमरे में सभी यथास्थान बैठे हुए हैं, पर किसी के मुँह में कोई बात नहीं है।

अकस्मात् नीरवता के आवरण को भेदकर महाराज गाने लगे—

सुन रे मम मानस, स्वीय कलुष अशेष।
कर्मदोषे आछे बाँधा, स्कंधेते तोमार॥[२]

फिर कहने लगे—

"विषाद! विषाद! ऐसा लग रहा है कि अब व्यर्थ बकवाद करके क्या लाभ? अब मौन हो रहूँगा। यदि मन और मुख एक करके बात न की जा सके तो लाभ ही क्या है? गोविन्द! गोविन्द! हरे!"

एक भक्त—आपके तो मन और मुख एक ही हैं, महाराज! अपने जीवन के अनुभव सुनाइएगा?

महाराज—यह क्या कहते हो? अब तुम्हारे साथ बात नहीं करूँगा। जिसका गला पकड़कर रोऊँ, उसी की आँख में पानी नहीं!

२. 'सुन ले मन मेरे, कन्धे पर तेरे।
लदा कलुष का भार घोर निजकर्म दोषसे रे॥'

आयुर्नश्यति पश्यतां प्रतिदिनं याति क्षयं यौवनं
प्रत्यायान्ति गताः पुनर्न दिवसा कालो जगद्भक्षकः ।
लक्ष्मीस्तोयतरंगभंगचपला विद्युच्चलं जीवितं
तस्मान्मां शरणागतं शरणद त्वं रक्ष रक्षाधुना ॥[3]

"मथुरा में एक सेठ रहता था। कोई नया साधु आया कि उसे अपने घर ले जा बाजार से कुछ मँगवाकर खिलाता था। मैं जब मथुरा गया तो वहाँ के साधुओं ने मुझसे उसके यहाँ जाने को कहा। बताया कि वहाँ जाने पर पक्की रसोई मिलेगी। मैं राजी हुआ। वहाँ और भी कुछ साधु थे। सबका भोजन हो जाने पर सेठजी साधु-संग करने के लिए हमारे सामने आकर बैठे और मुझसे पूछा, 'महाराज, वैराग्य कैसे होता है ?' मैं एकदम बोल उठा, 'मुझमें यदि वैराग्य होता तो मैं तुम्हें बता सकता कि वैराग्य कैसे होता है। वैराग्य होता तो क्या मैं तुम्हारे यहाँ भोजन के लिए आता ?' यह सुनकर साधु लोग बड़े खुश हुए। उन्होंने कहा, 'खूब उत्तर दिया !' सेठजी तो कुछ नहीं बोले।

"केवल स्वार्थ, केवल स्वार्थ ! मेरी ही बात कह रहा हूँ। कहता, सोचता और समझता हूँ कि मेरे स्वार्थ नहीं है, परन्तु स्वार्थ है। गोविन्द ! गोविन्द ! गोविन्द ! हरे !"

---

३. 'प्रतिदिन हमारी आँखों के समक्ष आयु नष्ट होती जा रही है, यौवन का क्षय होता जा रहा है। जो दिन चला गया, वह फिर नहीं आता। काल जगत् का भक्षण कर रहा है। धन-सम्पत्ति तरंगों की क्रीड़ा की तरह चंचल है तथा जीवन विद्युत् की तरह क्षणिक। इसलिए हे शरणदाता प्रभो, मुझ शरणागत की अब रक्षा करो, रक्षा करो।'

विभीषण-शरणागति (६।२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसर पर 'विभीषण शरणागति' पर एक प्रवचनमाला प्रदान की थी। प्रस्तुत लेख उसी के छठे प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रम-साध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में शिक्षक हैं। —स०)

अहल्या-रूप पाप का उत्तर हैं शिवजी, मारीच-रूप पाप का उत्तर हैं सीताजी और दण्ड-रूप पाप का उत्तर हैं भरतजी। अहल्या की आँखें तो गौतम-वेशधारी इन्द्र को पहचानने में धोखा खा जाती हैं, पर शंकरजी की आँखों को काम धोखा नहीं दे पाता। हम पढ़ते हैं कि काम शंकरजी पर आक्रमण करने गया। हमारे शास्त्रों की यह मान्यता है कि काम और राम देखने में एक-जैसे हैं। फिर काम ने अपना नाम भी ऐसा रखा है कि कमजोर दृष्टिवाला काम को राम और राम को काम पढ़ डाले। सुनने में भी भ्रम हो सकता है—काम पुकारा तो राम सुना और राम पुकारा तो काम। राम का साँवला रंग, तो काम का भी साँवला रंग, राम के हाथ में धनुष-बाण, तो काम के हाथ में भी धनुष-बाण। मतलब क्या? यह कि नकली सिक्का बनानेवाला यह ध्यान रखेगा कि बिलकुल असली जैसा दिखे। जितने सद्गुण हैं, उनके सब

नकली रूप दुर्गुणों के पास विद्यमान हैं। तो, ऐसा रूप बनाकर काम ने शंकर के हृदय पर प्रहार किया। अब शंकर के हृदय में तो राम रहते हैं, और काम ने भी प्रवेश पाने की चेष्टा की। शंकरजी ने नेत्र खोलकर देखा। जब उन्होंने दो नेत्र खोले, तो काम आम की डाल में छिपा बैठा दिखायी दिया—बिलकुलराम-जैसा। शंकरजी ने सोचा कि जरा ध्यान से देखें, कौन है ?—**'तब सिवँ तीसर नयन उघारा'** (१/८६/६)—उन्होंने अपना तीसरा नेत्र खोला।

संसार में बुद्धिमान् तो बहुत होते हैं, पर वे सब दो आँखवाले ही होते :हैं—तीसरीआँख वाले विद्वान् कम होते हैं। हम लोगों के दो ही आँखें होती हैं—एक दायें तो एक बायें। बीचवाली तीसरी आँख तो मात्र शंकरजी के है। हम या तो दायीं आँख से देखते हैं या बायीं से। दायीं आँख माने राग की आँख और बायीं आँख माने द्वेष की आँख। तो, हम या तो किसी को राग की आँख से देखते हैं, या द्वेष की। जिसके प्रति हमारा राग है, उसका दोष हमें दिखायी नहीं देता, और जिसके प्रति हमें द्वेष है, उसका गुण दीख नहीं पड़ता। परिणाम यह होता है कि हम सही रूप में न किसी व्यक्ति को देख पाते हैं, न वस्तु को। पर जिस व्यक्ति के पास तीसरी आँख है, वह असल और नकल का भेद कर ले सकेगा तथा सही परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति को, वस्तुओं को देखेगा। इसीलिए शंकरजी अपना तीसरा नेत्र खोलते हैं। देवता डर जाते है, शंकरजी से प्रार्थना के स्वर में कहते हैं—महाराज, यह आप क्या कर रहे हैं ? कृपया तीसरा

नेत्र बन्द रखिए। पर शंकरजी कहते हैं—नहीं, हम तो इस तीसरे नेत्र से काम को देखेंगे, क्योंकि हम राम को भी इसी नेत्र से देखते आ रहे हैं और—

तब सिवँ तीसर नयन उघारा।
चितवत कामु भयउ जरि छारा॥ १।८६।६

—तब शंकरजी ने तीसरा नेत्र खोला, उनके देखते ही काम जलकर भस्म हो गया।

अब यदि अहल्या भी उस तीसरे नेत्र को खोलकर देखती, तो इन्द्र जलकर खाक हो गया होता। लेकिन वह तो राग और द्वेष की उन्हीं दो आँखों से देखती है। जो राग और द्वेष से शून्य तीसरी तटस्थ दृष्टि है, वह उसके पास नहीं है। उसमें कहीं न कहीं कोई वासनामयी आसक्ति थी, जिसके कारण वह भ्रान्त हो गयी। शंकरजी के जीवन में यह भ्रान्ति नहीं है। अतः जो अपने जीवन में अहल्या के स्थान पर शंकर को प्रतिष्ठित करता है, वह बुद्धि की भ्रान्ति से उत्पन्न पाप से बच जाता है।

मारीच-रूप पाप का उत्तर हैं सीताजी। जिस रावण के द्वारा मारीच को पाप-कर्म करने के लिए बाध्य किया गया, वही रावण सीताजी से भी तो यही कह रहा है। सीताजी अशोकवाटिका में बन्दिनी हैं और रावण तलवार लेकर सामने खड़ा हुआ है, सीताजी से कहता है—

कह रावनु सुनु सुमुखि सयानी।
मंदोदरी आदि सब रानी॥

तव अनुचरीं करउँ पन मोरा।
एक बार बिलोकु मम ओरा॥ ५।८।४-५
नाहिं त सपदि मानु मम बानी।
सुमुखि होति न त जीवन हानी॥ ५।६।२

—तू मेरी बात जल्दी मान ले, नहीं तो तुझे जीवन से हाथ धोना पड़ेगा। अब, मारीच के सामने तो केवल मृत्यु का भय था, पर सीताजी के सामने रावण ने बल और प्रलोभन दोनों का प्रयोग किया। लोभ दिखाया कि लंका की सारी रानियाँ तुम्हारी सेवा में रहेंगी और भय दिखाया कि अगर तुम मेरी बात न मानोगी, तो मैं तुम्हारा सिर काट लूँगा। पर इतना भय और प्रलोभन सामने होते हुए भी सीताजी के अन्तःकरण पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा। मारीच तो रावण की बात सुनकर डर गया था कि वह हमारा प्राण ही ले लेगा, पर सीताजी का अदम्य आत्मविश्वास रावण के वचन सुनकर प्रकट होता है। वे लंका में अकेली हैं, चारों ओर से राक्षसियों से घिरी हैं। सामने रावण तलवार ले उन्हें प्रलोभन और भय दिखा रहा है। सीताजी अपने सामने एक तिनका रख लेती हैं और अपने परम प्रियतम ईश्वर का स्मरण करती हैं—

तृन धरि ओट कहति बैदेही।
सुमिरि अवधपति परम सनेही॥ ५।८।६

और फिर रावण को ऐसा फटकारती हैं कि वह तिलमिला जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि भय और लोभ मनुष्य के अन्तःकरण पर तभी प्रभाव डाल पाते हैं, जब

वह ईश्वर को भूल जाता है। यदि ईश्वर का प्रेम, उसका ऐश्वर्य हमारे सामने हो, तो संसार का कोई भी प्रलोभन हमें अपनी ओर नहीं आकृष्ट कर सकेगा। यदि हमें ईश्वर की क्षमता और शक्ति पर विश्वास है, तो संसार का कोई भय हमें आक्रान्त नहीं कर सकेगा। सीताजी ने रावण को अपनी वाणी के द्वारा जो उत्तर दिया, सो तो दिया ही, साथ ही उन्होंने तिनके के माध्यम से भी उसे उत्तर दे दिया कि तुम मुझे तलवार से डराना चाहते हो ? तुम्हें भक्तों की परम्परा नहीं मालूम ? वे भगवान् के लिए अपने शरीर को तृण की भाँति त्याग देते हैं। महाराज दशरथ की परम्परा तुम नहीं जानते ?—

बंदउँ अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद।
बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ ॥ १।१६

—उन्होंने अपना शरीर मामूली तिनके की तरह त्याग दिया ! ! मैं उन्हीं की कुलवधू हूँ, रावण ! तुम मुझे तलवार के बल पर डरा नहीं सकते। फिर सीताजी ने उस तिनके के द्वारा प्रलोभन का भी उत्तर दे दिया। तुम मुझे प्रलोभन दिखा रहे हो, दशकन्धर ! जानते हो, प्रभु के भक्तों के लिए तमाम भोग-विलास तिनके की नाईं तुच्छ होता है—

सुमिरत रामहि तजहिं जन तृन सम विषय बिलासु।
राम प्रिया जग जननि सिय कछु न आचरजु तासु ॥ २।१४०

और इस प्रकार भगवान् श्रीराम का स्मरण करते हुए सीताजी भय और प्रलोभन के बीच अडिग बनी रहती हैं।

तो, वे मानो मारीच-रूप पाप का उत्तर अपने जीवन के माध्यम से प्रदान करती हैं।

इसी प्रकार दण्ड-रूप पाप का उत्तर हैं भरतजी। दण्ड राजसत्ता पाकर उन्मत्त और उद्दण्ड हो गया। सत्ता पाकर मनुष्य ऐसा धृष्ट हो जाता है कि जहाँ कुदृष्टि नहीं डालनी चाहिए वहाँ भी कुदृष्टि डालने का दुस्साहस करता है। दण्ड सत्ता पाकर भोगी हो गया। इधर भरतजी का चरित्र है, जिन्हें अयोध्या का विशाल राज्य सौंपा गया, जो चौदह बरस तक उस राज्य का संचालन करते रहे, पर जिनमें अहंकार की बू तक न आयी। एक ओर दण्ड यदि उन्माद की सीमा है, तो दूसरी ओर श्री भरत निरभिमानिता की।

गोस्वामी जी एक सुन्दर चित्र प्रस्तुत करते हैं। भगवान् राम लंका-विजय कर अयोध्या लौटते हैं। श्री भरत उन्हें प्रणाम करते हैं। प्रभु उन्हें उठाकर अपने हृदय से लगाना चाहते हैं, पर गोस्वामी लिखते हैं—'**परे भूमि नहिं उठत उठाए**' (७।४।७)—भरतजी पृथ्वी पर पड़े हैं, उठाये नहीं उठते। तब प्रभु मुसकराकर कहते हैं—भरत, आज तो सब गणित व्यर्थ हो गया! गोस्वामीजी यहाँ पर एक विरोधाभासी चित्रण प्रस्तुत करते हैं। जब भरत चित्रकूट में प्रभु से मिले थे, तब वहाँ भी यद्यपि वे प्रणाम करने के बाद उठना नहीं चाहते थे, पर प्रभु ने उठा लिया था। गोस्वामी जी लिखते हैं—

बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान। २।२४०

पर आज जब चौदह बरस बाद भगवान् राम भरतजी को उठाना चाहते हैं, तो उठा नहीं पा रहे हैं। तो क्या

भरतजी इन चौदह वर्षों में मोटे हो गये, जो भगवान् राम अब उन्हें उठा नहीं पा रहे हैं ? गोस्वामीजी जान-बूझकर एक वाक्य लिखते हैं कि आज भारत कैसे हैं ?—

आए भरत संग सब लोगा।

कृस तन श्रीरघुबीर बियोगा ।। ७।४।१

—वे श्री रघुवीर के वियोग से दुबले हो गये हैं। तथापि चौदह बरस पहले उन्हें उठाना सरल था, अब कठिन है। यही गोस्वामीजी के साहित्य और दर्शन का विरोधाभास है। वैसे देखा जाय तो चौदह बरस के बाद जब भरत जी और भी दुबले हो गये हैं, तब तो उनको उठाना और भी सरल होना था। भरतजी का शरीर तो इस अवधि में दिनोंदिन दुबला होता गया है—'**देह दिनहुँ दिन दूबरि होई** (२।३२४।१)। फिर भी प्रभु उन्हें उठा नहीं पा रहे हैं। वे कहते हैं—भरत, तुम्हारा शरीर तो दुबला हो गया, पर लगता है तुम्हारी त्याग और साधना इतनी भारा हो गयी कि मैं भी तुम्हें नहीं उठा पा रहा हूँ। तुमको न उठा पाना तुम्हारी साधना और तप का गुरुत्व ही प्रकट कर रहा है!

एक युद्ध भगवान् राम ने लंका में लड़ा और दूसरा युद्ध भरत ने अयोध्या में। श्रीराम का युद्ध सामने दिखायी देता था, पर भरत का युद्ध अदृश्य था। इसलिए कई लोगों को भ्रान्ति होती थी कि भरत ने युद्ध में भाग नहीं लिया। सामान्य जनों की बात छोड़ दें, यह भ्रान्ति उस समय के बड़े से बड़े पात्रों को भी हुई थी। आज भी कई लोग मुझसे कहते हैं कि भरतजी को सेना लेकर लंका जाना चाहिए था, और विशेषकर जब उन्होंने हनुमान्जी से सारा

समाचार सुना, तब तो अवश्य ही जाना था। ऐसे समय भी उनका सेना लेकर लंका न जाना क्या उनके चरित्र के अनुकूल कार्य था? पण्डित मदनमोहनजी मालवीय के साथ रामनरेशजी त्रिपाठी रहे थे। उन्होंने एक दिन मालवीयजी से पूछा कि भरतजी को जब समाचार मिला, तो वे सेना लेकर क्यों नहीं गये? मालवीयजी ने उत्तर दिया—उन्हें समाचार मिला ही नहीं होगा, गलती से लिख दिया होगा! अब मालवीयजी भावुक व्यक्ति थे, इसलिए उन्होंने ऐसा उत्तर दे दिया। पर ग्रन्थों में तो भरतजी को हनुमानजी द्वारा दिये गये समाचार की बात आती है। तब भरतजी सेना लेकर जो नहीं गये, उसका क्या तात्पर्य है?

यदि हम थोड़ी गम्भीरता से विचार करें, तो देखेंगे कि भरतजी ने सही ही किया। यदि लड़ाई दो मोर्चों पर लड़ी जा रही हो, तो बुद्धिमानी यह नहीं है कि सभी लोग जाकर एक मोर्चे पर डट जायँ, बल्कि यह है कि जिसे जहाँ पर नियुक्त किया गया है, वह वहीं पर रहकर अपना कर्तव्य निभाता रहे। भगवान् राम ने भरत को एक युद्ध सौंपा था और संकेत दिया था कि भरत, तुम्हारा युद्ध मेरे युद्ध की अपेक्षा कठिन है। मैं तो सेना लेकर दैत्यों से लड़ूँगा और मेरी लड़ाई दिखेगी, जबकि तुम्हें अकेले ही लड़ना है और तुम्हारी लड़ाई किसी को दिखेगी नहीं। तो, भगवान् राम बाहर के शत्रुओं से युद्ध करते हैं, जबकि भरत अयोध्या में रहकर कैकेयी के हृदय में, महाराज दशरथ के हृदय में, अयोध्यावासियों के हृदय में विद्यमान उन दुर्बलताओं के साथ युद्ध करते हैं, जिनके रहते राम-

राज्य की स्थापना नहीं हो सकती।

हनुमान्‌जी को भी भरत के प्रति संशय हुआ था। लंका में युद्ध के बाद रात्रि के समय जब प्रभु बैठते थे, तो भरत की चर्चा अवश्य करते थे और जब वे भरत का गुण गाते, तो हनुमान्‌जी को लगता कि प्रभु अपने स्वभाव के कारण भरतजी की प्रशंसा कर रहे हैं, वैसे भरतजी में अपनी कोई विशेषता नहीं है। वे सोचते कि यदि भरतजी में इतनी विशेषता होती, तो क्या वे सेना लेकर इतने बड़े युद्ध में भाग लेने न आते ? प्रभु अन्तर्यामी हैं। वे हनुमान्‌जी का मनोभाव भाँप लेते हैं और उन्हें लगता है कि इन दो महान् भक्तों को मिला देने से ठीक होगा, जिससे वे एक दूसरे से परिचित हो जायँ। और प्रभु इन दो पात्रों को मिला देते हैं, और उस समय मिलाते हैं, जब हनुमान्‌जी अपने जीवन का सर्वोच्च कार्य, असम्भव को भी सम्भव करने का कार्य कर रहे थे।

मेघनाद की शक्ति खाकर लक्ष्मणजी मूर्छित हो जाते हैं। मेघनाद उन्हें उठाने की चेष्टा करता है, पर नहीं उठा पाता। इतने में हनुमान्‌जी आकर उन्हें उठाकर ले जाते हैं। जो कार्य मेघनाद के लिए असम्भव था, हनुमान्‌जी ने सम्भव कर दिखाया। फिर, वे वैद्य, औषध और काल इन तीनों पर विजय प्राप्त करते हैं। वैद्य लंका में है तो, पर उसे कौन ले आएगा ? गोस्वामीजी लिखते हैं— **'आनेउ भवन समेत तुरंता'** (६।५४।८)—हनुमान्‌जी वैद्य को घर समेत उठाकर ले आये। वैद्य ने आकर कहा—औषध चाहिए। औषध कहाँ है ?—सात हजार योजन दूर।

सूर्योदय से पहले ही ला देना होगा, तब कहीं काम बनेगा। कौन लाएगा ? और कोई तो सामने नहीं आता, हनुमान्‌जी ही आते हैं और वे समय के भीतर ही औषध लाकर दे देते हैं। तो, हनुमान्‌जी वैद्य, औषध और काल इन तीनों के विजेता बनते हैं। हनुमान्‌जी लक्ष्मणजी की रक्षा के लिए यह असम्भव-सा दिखनेवाला कार्य सम्भव करते हैं। लक्ष्मणजी को रक्षा का तात्पर्य है भगवान् राम की रक्षा, और भगवान् राम की रक्षा का तात्पर्य है सारे संसार के आदर्श की रक्षा करना। तो, जब हनुमान्‌जी औषध लाने के लिए चल पड़ते हैं, भगवान् राम के मन में कौतुक उत्पन्न होता है कि क्यों न इस समय जो सबसे अधिक सक्रिय है तथा जो सबसे अधिक निष्क्रिय दिखायी दे रहा है, उन दोनों को मिला दिया जाय। हनुमान्‌जी लम्बी यात्रा कर रहे हैं और भरतजी अयोध्या में बैठे हैं। प्रभु ने सोचा कि हनुमान् के जाते जाते दोनों की भेंट कराएँ या उसके वापस लौटते ? फिर वे ठीक करते हैं कि नहीं, हनुमान् के वापस लौटते समय ही दोनों की भेंट कराएँगे। तथापि जाते समय भी प्रभु हनुमान् की भेंट एक सन्त से करा देते हैं। वह है नकली सन्त। तो, जाते समय एक नकली सन्त से मिलाया और वापस लौटते समय असली सन्त से। प्रभु हनुमान्‌जी पर विशेष प्रसन्न हैं, वे उन्हें दोनों प्रकार के सन्त दिखा देते हैं। और सबसे विचित्र बात यह है कि नकली सन्त तो कथा सुनाता है, जबकि असली सन्त बाण मार देता है। भगवान् का खेल भी कभी कभी बड़ा उल्टा चलता है। हनुमान् के जीवन में ये दो

अनुभव देकर मानो वे यह बता देना चाहते हैं कि बाहर जो दिखायी देता है, वही सदा सत्य नहीं होता, कभी कभी भीतर का सत्य ही बड़ा सत्य होता है। जो कहते हैं कि भरत सेना लेकर लड़ने नहीं गये, वे केवल बाहर का सत्य देख रहे हैं। ऐसे लोग कालनेमि को सन्त मान लेंगे और भरत को असन्त। यदि हम भीतर की सचाई को जानने की चेष्टा करें, तो पाएँगे कि बाहर की पवित्र दिखनेवाली क्रिया के पीछे कैसे कभी कभी अपवित्र उद्देश्य भरा होता है, और जो क्रिया कभी-कभी प्रत्यक्ष रूप से समझ में नहीं आती, उसके पीछे पवित्रतम भाव विद्यमान होता है। अब कालनेमि के द्वारा कथा सुनाने की क्रिया पर ही विचार करें। वह क्यों कथा सुनाता है? इसलिए कि हनुमान्‌जी को विलम्ब हो जाय और वे समय पर औषध न ला सकें। इससे लक्ष्मणजी के प्राण चले जाते। फलतः राम भी विरह में अपने प्राण त्याग देते और राम के वियोग में सीताजी अपने प्राणों को छोड़ देतीं। तो, जिस कथा का तात्पर्य वैराग्य, ज्ञान और भक्ति को मारना हो, उसे किस अर्थ में कथा कहा जाय? जिस कथा का उद्देश्य कथा के अभीष्ट को ही मिटा देना है, ऐसी कथा हनुमान्‌जी के सामने आती है। प्रभु भी विनोदी हैं, वे हनुमान्‌जी को भरत से मिलाने के पूर्व यह यह सब दिखा दे रहे हैं। पहले तो हनुमान्‌जी ने कालनेमि को सन्त मान लिया। गोस्वामीजी लिखते हैं—

मारुतसुत देखा सुभ आश्रम।
मुनिहि बूझि जल पियौं जाइ श्रम॥ ६।५६।२

यह जो हनुमान्‌जी को धोखा हुआ, इसका क्या तात्पर्य ? इसमें मीठा व्यंग्य यह है कि प्रभु मानो उन्हें चेतावनी देते हैं कि हनुमान्, ऐसा न समझ बैठना कि तुम्हें कभी भ्रम नहीं होगा। संसार में माया और मोह का पक्ष भी इतना प्रबल है कि देखो, तुम्हें भी एक क्षण के लिए भ्रम का शिकार होना पड़ गया। तथापि हनुमान्‌जी पर प्रभु की महती कृपा है। वे धोखा खाकर भी बच जाते हैं। उन्हें प्यास लगी थी। वे कालनेमि के पास जाकर कहते हैं— महाराज, प्यास लगी है। कालनेमि कमण्डलु का जल उनके सामने सरका देता है। हनुमान्‌जी कमण्डलु देखकर कहते हैं—महाराज, मेरी प्यास इतने से बुझनेवाली नहीं है। इसका एक बड़ा सांकेतिक तात्पर्य है। यदि हनुमान्‌जी की प्यास कमण्डलु के जल से बुझ जाती, तब तो वे काल-नेमि के चक्कर में पड़ गये होते। ये जो छोटी प्यासवाले लोग होते हैं, वे चमत्कारों के चक्कर में फँस जाते हैं। किसी को पैसे की प्यास होती है, तो किसी का सन्तान की, किसी को नाम की, तो किसी को मुकदमे में जीतने की। ऐसी छोटी छोटी प्यासें कमण्डलु के जल से बुझ जाती हैं। पर हनुमान्‌जी तो बड़ी प्यास वाले हैं, उनकी भूख भी बड़ी है। सीताजी के सामने जब अशोकवन में पहुंचे, तो कह उठे—'सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा' (५।१६।७)— माँ, मुझे बड़ी भूख लगी है, और कालनेमि से कहा—मुझे बड़ी प्यास लगी है। छोटी भूख और छोटी प्यास वालों की भूख-प्यास तो संसार की वस्तुओं से बुझ जाती है, पर जिनकी भूख और प्यास बड़ी होती है, वह भक्ति और

प्रेम से ही बुझा करती है। गोस्वामीजी 'विनय-पत्रिका' (२१९) में लिखते हैं—

द्वार हौं भोर ही को आजु।
रटत रिरिहा आरि और न, कौर ही तें काजु ॥१
जनम को भूखो भिखारी हौं गरीबनिवाजु।

प्रभु ने पूछा—कितने में तुम्हारा पेट भरेगा ? गोस्वामीजी बोले—बड़ा भूखा हूँ, महाराज ! तुलसी को तो पेट-भर जिमाना पड़ेगा—**'पेट भर तुलसिहि जेंवाइय'**। "क्या खाओगे ?" "**भगति-सुधा सुनाजु !**" —

पेट भर तुलसिहि जेंवाइय भगति-सुधा सुनाजु ॥५

गोस्वामीजी ने कहा—महाराज, यह पेट ऐसा नहीं है, जो संसार की वस्तुओं से भर जाय, यह तो भक्ति के मंगलमय धान्य से ही भर सकता है !

तो, हनुमान्‌जी भी ऐसे ही हैं, जिनकी प्यास प्रेम के जल से बुझती है और भूख, भक्ति से। कमण्डलु के जल को देखकर हनुमान्‌जी कहते हैं—इससे तो मेरी प्यास बुझेगी नहीं। तब कालनेमि कहता है—भई, कमण्डलु में तो इतना ही जल है। अधिक चाहते हो तो सरोवर में चले जाओ। हनुमान्‌जी सरोवर में जाते हैं और स्नान करते हैं, तो प्रभु की कृपा उन्हें प्राप्त हो जाती है। प्रभु विचार करते हैं कि यह हमारा बड़ी प्यास वाला भक्त है, आज छोटे कमण्डलुवाले के पास सन्त समझकर पहुँच गया था, अब इस पर कृपा कर दी जाय। तो, जैसे ही हनुमान्‌जी सरोवर के जल में उतरते हैं कि एक मगरी उनका पैर

पकड़ लेती है। हनुमान्‌जी उस पर प्रहार करते हैं--

सर पैठत कपि पद गहा मकरीं तब अकुलान।

मारी सो धरि दिव्य तनु चली गगन चढ़ि जान॥ ६।५७

यह भी एक प्रतीकात्मक संकेत है। मगरी हनुमान्‌जी से कहती है—महाराज, आपका कोई पैर पकड़े, तो आशी-र्वाद देना चाहिए या मारना चाहिए ? हनुमान्‌जी बोले—तुम-जैसे पैर पकड़नेवालों को तो मारना ही चाहिए। इस पर मगरी बोली—तब तो ऐसी कथा सुनानेवाले सन्त को भी मारना चाहिए। वह संकेत करती है—

मनि न होइ यह निसिचर घोरा।

मानहु सत्य बचन कपि मोरा॥ ६।५७।२

मानो मगरी कहती है कि जैसे मैंने जो आपका पैर पकड़ा, वह कोई श्रद्धा से नहीं, बल्कि आपको खाने के लिए था, वैसे ही वह जो कथा सुना रहा है, वह भी आपको खाने के लिए ही है। हनुमान्‌जी को ऐसा गुरु मिला है, जो उन्हें भगवान् की कथा सुनाकर भगवान् से ही वंचित करना चाहता है और उन्हें शिष्य भी ऐसा मिला, जो पैर पकड़कर उन्हें खा जाना चाहता है। नकली गुरु और नकली चेले से हनुमान्‌जी की यह भेंट बड़ी सांकेतिक है। कालनेमि ने उनसे कहा भी—जब सरोवर में जल पीने जा रहे हो, तब स्नान भी करते आना, मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा—

सर मंज्जन करि आतुर आवहु।

दिच्छा देउँ ग्यान जेहिं पावहु॥ ६।५६।८

हनुमान्‌जी स्नान करके आये। कालनेमि ने कहा—

दीक्षा ले लो। हनुमान्जी बोले—बिना दक्षिणा दिये, महाराज, हम तो मंत्र लेंगे नहीं, पहले गुरुदक्षिणा ले लीजिए। और तब—**'सिर लंगूर लपेटि पछारा'** (२।५७।५)—हनुमान्जी ने उसके सिर को पूँछ में लपेटकर उसे पछाड़ दिया। उनकी भ्रान्ति दूर हुई और वे आगे बढ़े। पर्वत पर पहुँचे। पर वे औषध पहचान न सके—**'देखा सैल न औषध चीन्हा'** (२।५७।७)। उन्हें लगा कि आज भ्रान्ति का ही दिन हैं, तभी तो सब जगह पहचानने में भूल हो रही है। उन्होंने समूचा पर्वत ही उठा लिया—**'सहसा कपि उपारि गिरि लीन्हा'** (२।५७।७)—सोचा कि वैद्यजी देखकर औषध पहचान लेंगे। हनुमान्जी के मन में कुछ गर्व का भाव तो अवश्य आया कि देखो, मैंने समूचे पर्वत को ही उठा लिया। उनका समय कुछ विपरीत चल रहा था। जब वे सीताजी की खोज में समुद्र को पार कर रहे थे, उस पहली यात्रा में पर्वत नीचे था और हनुमान्जी ऊपर थे—**'जेहि गिरि चरन देइ हनुमंता'** (५।०।७), और आज पर्वत ऊपर है और हनुमान्जी नीचे। जब वे लौटने लगे, तो अचानक ध्यान आया कि जिन भरतजी की प्रभु इतनी प्रशंसा करते हैं, उन्हें जरा देखते तो चलें। बस, वे अयोध्या के ऊपर आ गये। दो महान् सन्त आमने सामने हुए। वैसे हनुमान्-जी और भरत जी में एक महान् अन्तर है। हनुमान्जी का का शरीर पर्वताकार है—**'अतुलितबलधामं हेमशैलाभदेहम्'** (५।वन्दना), जबकि भरतजी तो—**'देह दिनहुँ दिन दूबरि होई'** (२।३२४।१)—दिन दिन दुबले होते जा रहे थे। वे इतने क्षीणकाय थे कि हनुमान्जी उन्हें देख नहीं पाये, पर

भरतजी उन्हें देख लेते हैं, क्योंकि उनका शरीर विशाल है। इसका आध्यात्मिक तात्पर्य यह है कि हनुमान्‌जी की सेवा प्रकट है, पर भरतजी की सेवा अगोचर है, दिखायी नहीं देती। हनुमान्‌जी की सेवा पग पग पर दिखायी देती है। लंका के युद्ध में उनकी सेवा इतनी है कि यदि वे न होते, तो लगता है, लंका की लड़ाई जीतना सम्भव न हो पाता। लेकिन यदि भरतजी न होते, तो लगता है कि कुछ अन्तर न पड़ता।

तो, जब भरतजी ने देखा कि कोई विशाल काया-वाला आकाशमार्ग से जा रहा है, तो प्रभु ने कौतुक किया, उन्होंने भरतजी के अन्त:करण में विचार उठाया कि यह कोई निशाचर है—

देखा भरत बिसाल अति निसिचर मन अनुमानि। ६।५८

जब भरत मारने चले, तो प्रभु ने मानो संकेत किया—भरत, यह निशाचर नहीं, सन्त है; इसमें अपने प्रति महत्त्व-बुद्धि के कारण जो थोड़ी देर के लिए निशाचरत्व आ गया है, उसकी चिकित्सा कराने मैंने इसे तुम्हारे पास भेजा है। निशाचर को मारना मेरे लिए बहुत सरल है, पर जहाँ सन्त में निशाचरत्व हो, उसकी चिकित्सा मेरे लिए कठिन है। जहाँ पाप को पूरी तरह से काटना हो, वहाँ पापी को काटकर मैं चिकित्सा कर दे सकता हूँ, पर दोषी को बचाकर दोष की चिकित्सा करना मेरे लिए कठिन हो जाता है। इसकी दवा मेरे पास नहीं है, इसीलिए मैंने इसे तुम्हारे पास भेजा है, जिससे रोग मर जाय और रोगी बच जाय। तो, भरतजी आकाश में विशाल प्राणी

को निशाचर समझते हुए उस पर बिना फल का बाण चलाते हैं—

बिनु फर सायक मारेउ चाप श्रवन लगि तानि । ६।५८

बाण खाकर हनुमान्‌जी मूर्छित होकर गिर पड़ते हैं। इस छोटी सी घटना से प्रभु ने हनुमान्‌जी को दिखा दिया कि कुछ न करनेवाला कितना कर सकता है। हनुमान्‌जी ने सारी लंका जला दी थी और प्रभु ने प्रशस्ति की थी कि दोनों सेनाओं में तुम्हारे समान कोई वीर नहीं। और आज उसी लंका-विजेता को भरत ने बिना फल के बाण से गिरा दिया, मानो हनुमान्‌जी को बता दिया कि देखो, दुर्बल शरीर में कितनी शक्ति है। विशाल शरीर में शक्ति होती है, यह तो प्रत्यक्ष है, पर क्षीणकाय शरीर में भी ऐसा अपार बल हो सकता है इसकी अनुभूति हनुमान्‌जी को प्रभु करा देते हैं। फिर भरतजी ऐसी कुशलता से बाण मारते हैं कि हनुमान्‌जी तो धरती पर गिर पड़ते हैं, पर पर्वत आकाश में टँगा रहता है, क्योंकि भरतजी सोचते हैं कि यदि यह निशाचर पर्वत को पटक देगा, तो सारी अयोध्या नष्ट हो जायगी। प्रभु ने इसके द्वारा दूसरा संकेत दे दिया कि हनुमान्, तुम समझते थे कि तुमने पर्वत को उठाकर रखा है; देखो, पर्वत उठानेवाला तो गिर पड़ा है और पर्वत ऊपर ही रुका हुआ है। इससे सन्त के बाण, का चमत्कार प्रकट है। इससे यह भी प्रकट है कि जो भार उठाये दिख रहा है, वास्तव में वह भार कोई दूसरा ही उठाये हुए है। फिर एक तीसरी बात भी इस घटना से प्रकट होती है। हनुमान्‌जी मर्छा दूर करनेवाली दवा

अपने साथ लिये हुए हैं और स्वयं मूर्छित हो गये हैं ! दूसरे की मूर्छा दूर करने के लिए दवा ले जा रहे हैं, पर अपनी मूर्छा नहीं दूर कर पा रहे हैं। दूसरों की बुराई दूर करने-वाला स्वयं अगर किसी चक्कर में पड़ जाय, तो वह संकट की स्थिति है। प्रभु ने हनुमान्‌जी को भरतजी की विशेषता दिखा दी। वैसे तो हनुमान् और भरत दोनों ही महान् हैं, पर भरत की महानता में जो विशेषता है, उसे प्रभु इस घटना के माध्यम से प्रकट करते हैं। हनुमान् की महानता यह थी कि वे लंका में वैद्य को ले आये, औषध को उठा ले आये और समय के भीतर ले आये। लंका में वैद्यअलग था, औषध अलग थी और समय की सीमा भी भिन्न थी। पर अयोध्या में वैद्य, औषध और समय ये तीनों भरत के व्यक्तित्व में ही समाहित हैं; क्योंकि हनुमान्‌जी की मूर्छा दूर करने के लिए भरत न तो वैद्य लाते हैं, न दवा। ऐसी बात नहीं थी कि अयोध्या में कोई वैद्य न हों, या वहाँ दवा न मिलती हो। पर उन्होंने वैद्य या दवा की अपेक्षा नहीं की, वे तो अपने व्यक्तित्व से ही वैद्य और दवा प्रकट करते हैं। हनुमान्‌जी की मूर्छा को न टूटते देख उनके मुख से निकल पड़ता है—

जौं मोरें मन बच अरु काया।
प्रीति राम पद कमल अमाया॥
तौ कपि होउ बिगत श्रम सूला।
जौं मो पर रघुपति अनुकूला॥ ६।५८।६-७

—'यदि मन, वचन और शरीर से श्रीरामजी के चरणकमलों में मेरा निष्कपट प्रेम हो और यदि श्रीरघनाथ-

जो मुझ पर प्रसन्न हों, तो यह वानर थकावट और पीड़ा से रहित हो जाय।' भरतजी के मुख से इतना निकलना था कि हनुमान्‌जी उठ बैठते हैं। प्रभु मानो संकेत करते हैं कि हनुमान्, यह दवा तो तुम्हारे पास भी थी, तुम्हारे मन में भी तो मेरे लिए इतना प्रेम है, पर तुम हो कि दवा लाने इतनी दूर चले गये और भरत है कि यहीं बैठे बैठे उसने दवा की व्यवस्था कर दी! भरत निष्क्रिय क्यों दिखायी देता है? इसलिए कि उसे न तो वैद्य लाने जाना है, न दवा लाने। सब कुछ उसके व्यक्तित्व में ही है।

भरतजी हनुमान्‌जी से सारे समाचार सुनते हैं। एक और अन्तर दोनों सन्तों में दिखायी देता है। हनुमान्‌जी के लिए कहा गया—**'राम काज लगि तव अवतारा'** (४।२९।६), और हनुमान्‌जी स्वयं यह मानते हैं कि वे राम-काज के लिए बने हुए हैं। सुरसा से कहते भी हैं—**'राम काजु करि फिरि मैं आवौं'** (५।१।४)। पर भरत अपनी सेवा को एकदम गुप्त रखते हैं। यहीं पर उनकी एक बड़ी विजय है। इतनी महान् सेवा करने के बावजूद जब भरत ने लक्ष्मणजी की मूर्छा का समाचार सुना, तो उनके मुख से निकल पड़ा—

अहह दैव मैं कत जग जायउँ।
प्रभु के एकहु काज न आयउँ॥ ६।५९।३

—'हा दैव, मैं जगत् में क्यों जन्मा? प्रभु के एक भी काम न आया।' और यह कहकर भरतजी विलाप करने लगे। उनके मन में यह बात न आयी कि मैंने हनुमान्‌जी की मूर्छा ठीक कर दी है, न ही उनका निरहंकारी

व्यक्तित्व इस बात की कल्पना कर सका कि उन्होंने हनुमान्‌जी को शिक्षा दी। वे तो अपनी असमर्थता और दोषों का ही बखान करते हैं, अपने को कोसते हैं कि मेरा जन्म तो, बस, प्रभु के भक्तों पर प्रहार करने के लिए हुआ है, भगवान् और भक्तों को पीड़ा पहुँचाने के लिए हुआ है, नहीं तो क्या मैं इतने बड़े सन्त को निशाचर समझ लेकर उन पर प्रहार करता? भरतजी यह सोच सोच व्याकुल हो जाते हैं और उनके मुख से एक वाक्य निकल पड़ता है। प्रभु भी चाहते हैं कि भरत व्याकुल हो, जिससे उसके मुंह से वह वाक्य निकले। और सचमुच भरत के जीवन में यदि वह व्याकुलता न आती, तो वे शब्द भी नहीं निकलते। भरतजी हनुमान् से कहते हैं कि भाई, बड़ा विलम्ब हो गया है, तुम एक काम करो—

चढ़ु मम सायक सैल समेता।
पठवौं तोहि जहँ कृपानिकेता ॥६।५९।६

—'तुम पर्वतसहित मेरे बाण पर चढ़ जाओ, मैं तुमको वहाँ भेज दूँ, जहाँ कृपा के धाम श्रीरामजी हैं।'

यह सुनकर हनुमान्‌जी बार बार भरतजी की ओर देखने लगे। हड्डी हड्डी तो दिखायी दे रही है और प्रस्ताव कर रहे हैं कि पर्वतसहित बैठ जाओ! यह तो वैसा ही है, जैसे दस मन वजन के व्यक्ति के सामने तृण दिखाकर कहा जाय कि तुम इस पर बैठ जाओ! इससे—

सुनि कपि मन उपजा अभिमाना।
मोरें भार चलिहि किमि बाना ॥६।५९।७

—हनुमान्‌जी के मन में अभिमान उत्पन्न हुआ कि मेरे

बोझ से बाण कैसे चलेगा ? 'गीतावली रामायण' में आता है कि हनुमान्‌जी पर्वतसहित बाण पर बैठे और श्री भरत ने बाण चढ़ाया। फिर हनुमान्‌जी बाण पर से कूद पड़े और भरत के चरणों में गिर पड़े। बोले—महाराज, मेरे मन की भ्रान्ति मिट गयी, मैं धन्य हो गया। प्रभु मानो संकेत देते हैं—हनुमान्, मेरा बाण तो मारने के लिए है, जबकि भरत का बाण भ्रान्ति मिटाने के लिए। हनुमानजी ने अपने जीवन में बहुत सारे बाण देखे थे। लंका में भगवान् राम और रावण के युद्ध में कितने चमत्कारी बाण न चले होंगे। वाल्मीकि रामायण में तो इसका बड़े विस्तार से वर्णन आया है। हनुमान्‌जी को वरदान था कि उन पर किसी बाण का प्रभाव नहीं पड़ेगा। पर उन्होंने ऐसा विलक्षण बाण जो उनको गिरा दे, अपने जीवन में पहली बार देखा। फिर उन्होंने ऐसे बाण तो देखे थे, जो आग लगा दे, पानी बरसा दे, मार दे, पर ईश्वर के पास पहुँचा देनेवाला बाण उन्होंने पहली बार देखा।

हनुमान्‌जी ने भगवान् राम से पूछ दिया कि प्रभु, आप भरतजी-जैसे सन्त को अपने पास क्यों नहीं रखते, उन्हें दूर क्यों रखते हैं ? प्रभु बोले—हनुमान्, तुम तो मेरी सेवा में हो ही, पर जो लोग मुझसे दूर हैं, मुझ तक पहुँच नहीं सकते, उनको भी मेरे पास पहुँचानेवाला तो कोई सन्त चाहिए। इसीलिए मैंने भरत को दूर बिठा रखा है कि जो मेरे पास पहुँचने लायक नहीं हैं, उन्हें भी पहुँचा दे !

तो ऐसे हैं श्री भरत। यदि वे भगवान् राम के धनुष

हैं, तो हनुमान्‌जी हैं बाण। धनुष स्थिर दिखायी देता है, तो बाण चलता हुआ। पर बाण धनुष की ही शक्ति से चलता है। यदि धनुष अपनी डोरी को खींच बाण को शक्ति न दे, तो वह कैसे चलेगा? तो, भगवान् राम हनुमान्‌जी को मानो यह बता देना चाहते हैं कि हनुमान्, हम जो लड़ाई लंका में लड़ रहे हैं, उसके पीछे भरत की साधना, उसका प्रेम, उसका चरित्र, उसका तप कार्य कर रहा है। और हम जो विजय प्राप्त करेंगे, वह भरत के तप और प्रेम की विजय होगी।

जब हनुमान्‌जी लौटकर आये और औषध के द्वारा वैद्य ने लक्ष्मणजी को स्वस्थ कर दिया, तो अवकाश के क्षणों में प्रभु ने हनुमान् से यात्रा का अनुभव पूछा। हनुमान्‌जी बोले—प्रभो, आपने बड़ी विचित्र अनुभूतियाँ करायीं। जब मैं जगज्जननी के पास आपका सन्देशा लेकर लंका गया, तब बीच में जो समुद्र मिला था, उसे तो मैं सरलता से पार कर गया, पर इस यात्रा में आपने मुझे जिस समुद्र से मिलाया, उसमें तो मैं डूब ही गया! हनुमान्‌जी का संकेत भरत-समुद्र की ओर था। गोस्वामीजी लिखते हैं—

'पेम अमिअ मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गँभीर।' २।२३८

—प्रेम अमृत है, विरह मन्दराचल पर्वत है और भरतजी गहरे समुद्र हैं। इस भरत-समुद्र को हनुमान् पार नहीं कर पाये, क्योंकि यह अपार समुद्र था। गोस्वामीजी के शब्दों में—

भरत बाहु बल सील गुन प्रभु पद प्रीति अपार।६।६०ख

यह सुनते ही प्रभु हनुमान्‌जी को हृदय से लगा लेते हैं और कहते हैं—हनुमान्, संसार में तुमसे भाग्यशाली और कोई नहीं है, जो अहंकार के समुद्र को तुमने पार कर लिया और प्रेम के समुद्र में डूब गये ! यही पूर्णता है। सार्थकता दोनों समुद्रों को पार करने में नहीं है, अपितु लंका के अहंकार-समुद्र को पार करने और भरत के प्रेम-समुद्र में डूबने में है।

इसीलिए आज प्रभु जब भरत को नहीं उठा पा रहे हैं, तो कहते हैं—भरत, तुमने तो हनुमान् को पर्वत-सहित तौल लिया था, उस हनुमान् को जो हम दोनों भाइयों को कन्धे पर उठाकर ले गया था। अतः आज यदि मेरी भुजाएँ तुम्हें नहीं उठा पाती हों, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है ! लगता है तुम्हारे गुणों की गुरुता में वृद्धि हो गयी है। भरत यह सुनकर बोले—नहीं, प्रभु, बात वैसी नहीं है। आज तक आपने बड़े बड़े पापियों को तारा है, पर मुझमें पाप का भार इतना अधिक हो गया है कि आज भगवान् भी मुझे नहीं उठा पा रहे हैं ! देखिए मैं कितना बड़ा अपराधी हूँ। पहले आपको वन भेजा, फिर भक्त पर बाण चलाया। मेरे पापों की कोई सीमा नहीं। गोस्वामीजी 'विनय-पत्रिका' (१७१।६) में लिखते हैं—

स्वामी की सेवक-हितता सब, कछु निज साइँ-द्रोहाई।
मैं मति-तुला तौलि देखी भइ मेरेहि दिसि गरुआई॥

—'मैंने जब अपनी बुद्धिरूपी तराजू पर एक ओर स्वामी की सारी सेवक-वत्सलता और दूसरी ओर अपना जरा-सा

स्वामी-द्रोह रखकर तौला, तब देखने पर मेरी ही ओर का पलड़ा भारी निकला।'

तात्पर्य यह है कि भरतजी के जीवन में इतना धर्म, इतनी सेवा, इतनी क्रिया होते हुए भी इतनी निरभिमानिता है कि वे अपने को प्रभु के हाथों कठपुतली के रूप में देखते हैं। जैसे कठपुतली के नाच में कठपुतली नहीं थकती, नचानेवाला थकता है; उसका नाच उसकी कला पर निर्भर नहीं है, अपितु नचानेवाले पर निर्भर है, उसी प्रकार भरतजी भी अपने को कठपुतली मानते हैं। संसार के जितने नाच हैं, उनमें नाचनेवाला फँसता है, पर एक कठपुतली का नाच ऐसा है, जिसमें नचानेवाला फँसता है। संसार-वालों का नाच यदि कर्तृत्वयुक्त कर्म का उदाहरण है, तो कठपुतली का नाच कर्तृत्वरहित कर्म का। ऐसे कर्तृत्व की भावना से सर्वथा रहित भरतजी दण्ड-रूप का पाप उत्तर हैं।

तो, यदि अहंकारजन्य पापों से बचना हो, तो श्री भरत का उदाहरण अपने सामने रखना चाहिए। यदि मनोजन्य पापों से बचना हो, तो श्री सीताजी के समान प्रभु की स्मृति में निरन्तर डूबे रहना चाहिए। और यदि बुद्धि की भ्रान्तिजनित पापों से बचना हो, तो शंकरजी-जैसी दृष्टि लानी चाहिए। किन्तु यदि हम शंकर-जैसी दृष्टि न ला सकें, हममें भरतजी-जैसी निरहंकारिता न हो, श्री सीताजी-जैसा हमारा मन न हो, तो क्या हमें निराश हो जाना चाहिए ? नहीं, ऐसी बात नहीं, वे दूसरे तीन पात्र भी तो महान् ही हैं, जिन्होंने भगवान् के चरणों में अपना मन लगाया। अहल्या, दण्डकवन और मारीच—ये तीनों भी

प्रभु के चरणों को पाकर धन्य हो गये। इसका अभिप्राय यह है कि अगर हमारी इतनी उच्च स्थिति नहीं है, तो चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। एक बार यदि हम भगवान् के चरणों का आश्रय ले लें, तो जैसे उन चरणों ने अपनी रेणु के द्वारा अहल्या को जड़ से चैतन्य बना दिया, दण्डकवन को शाप से मुक्त कर उसमें पुनः चेतना का संचार कर दिया और मारीच के पीछे दौड़कर उसकी चंचलता को समाप्त करके उसे अपने आसन के रूप में स्वीकार कर लिया, उसी प्रकार वे चरण हमारा भी कलुष नष्ट कर हमें धन्य कर देंगे।

दृश्य आता है कि मारीच भाग रहा है और उसके पीछे धनुष-बाण ले भगवान् राम दौड़ रहे हैं। मारीच लौट-लौटकर पीछे देखता है। प्रभु ने मानो पूछा—मारीच, तुम आये तो मेरे पास थे, फिर वापस भाग क्यों रहे हो? मारीच बोला—प्रभु, आया तो था शरणागत होने के लिए, पर यहाँ आकर साहस छूट गया।

"क्यों, साहस कैसे छूट गया?"

"मैंने सुना कि आपकी शरणागति में निष्कपटता का नियम है। आप कहते हैं कि—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा।। ५।४३।५

—मुझे कपट प्रिय नहीं लगता। और हम तो ऐसे कपटी हैं कि कपट छोड़ सकते नहीं। इसीलिए यह सोचकर कि हम तो आपको पाने योग्य हैं नहीं, वापस लौटे जा रहे हैं।"

"वापस भाग रहे हो तो लौट-लौटकर क्यों देख रहे हो?"

"महाराज, हम तो जानते हैं कि हम कपटी हैं, आपको नहीं पा सकते। पर मैं लौट-लौटकर यह देख रहा था कि आप हमें पा सकते हैं या नहीं?"

इसका अभिप्राय यह है कि जिसे अपनी साधना पर विश्वास न हो, वह यदि भगवान् की कृपा पर विश्वास करे और यह सोचे कि भले ही मैं अपने पुरुषार्थ से उन्हें न पा सकूँ, पर वे तो कृपा करके मुझे पा सकते हैं, तो इससे ही उसका कल्याण होगा। आज विभीषण यही सब सोचते हुए भगवान् राम की ओर चल रहे हैं। वे यही विचार कर रहे हैं कि भले ही मुझमें पवित्रता न हो, पर जैसे मारीच, अहल्या और दण्डकवन ने शरणागति के द्वारा उनका चरण-स्पर्श प्राप्त किया, वैसे ही मैं भी प्राप्त करूँगा और उससे मेरे जीवन के भी पाप-ताप धुलेंगे और मुझमें धन्यता आएगी। विभीषण अपने हृदय में यह आशा और विश्वास लेकर विशाल समुद्र को पार कर जाते हैं और आकर प्रभु से मिलित होते हैं।

(क्रमशः)

रसद्दार मथुर

मूल बँगला लेखक—नित्यरंजन चटर्जी, कलकत्ता
अनुवादक—श्यामसुन्दर चटर्जी, कवर्धा

श्रीरामकृष्ण वैद्यनाथ की ओर चल रहे हैं। साथी हैं मथुरामोहन। नौकर-चाकर, रुपये-पैसे, सामान आदि सभी कुछ तो है। किसी भी वस्तु का अभाव नहीं है। जाने कब 'बाबा' के मन में कौन सी कामना जाग उठे? सम्हालना तो पड़ेगा। मथुरामोहन की श्रीरामकृष्णदेव पर सतर्क दृष्टि है। आज्ञापालन में थोड़ी भी देर न होने पाए। किसी भी समय असन्तुष्ट न होने पावें।

तृतीय श्रेणी के तीन तथा द्वितीय श्रेणी का एक, कुल मिलाकर चार बोगियों का आरक्षण हुआ है। श्रीराम-कृष्ण मथुरामोहन के कक्ष में ही हैं। इनके अन्तरंग भी साथ में हैं।

भावावेश से परिपूर्ण, श्रीरामकृष्ण कभी उस दिगन्त-पसारी महाशून्य की ओर देखते हैं, तो कभी बादलों के बीच सौन्दर्य की छटा को। अनेक ग्राम, अनेक जनपद पार कर गये। जैसे चलने का अन्त ही न हो। सूर्य ढल चुका है। धीरे धीरे सन्ध्या की नीरवता घनीभूत होती जा रही है। साथ में चलनेवाले अन्तरंग लोग दत्तचित्त हो श्रीरामकृष्णदेव की अमृतमयी वाणी के स्वर्गीय आनन्द का उपभोग कर रहे हैं।

"रात्रि के आकाश में जगमगाते तारे सूर्योदय के साथ ही अदृश्य हो जाते हैं। महाशून्य के वक्ष में जाने कहाँ विलीन हो जाते हैं। इससे क्या यह कहेंगे कि दिन के आकाश में एक भी तारा नहीं है ?"

"मनुष्य को अज्ञान की अवस्था में कोई उपलब्धि नहीं हो पाती।"

"ईश्वर साकार भी है और निराकार भी। जिसने जैसा समझा उसने वैसा देखा।"

"दो व्यक्तियों ने खजूर के पेड़ पर एक गिरगिट देखा। वस्तु एक है पर दृष्टियाँ दो। एक ने कहा—बहुरुपिये का रंग लाल है। किन्तु दूसरा व्यक्ति इसे कैसे माने ? उसने तो उसका रंग नीला देखा है। अब मीमांसा कैसे हो ? उसी पेड़ के नीचे एक व्यक्ति रहता था। उसने कई वार उस बहुरुपिये को देखा था। उसके रंग बदलनेवाले रूप को ठीक से परखा था। दोनों व्यक्ति उसके पास गये। एक ने प्रश्न किया—बहुरुपिये का रंग लाल ही तो है न ? उस व्यक्ति ने कहा—हाँ। दूसरे व्यक्ति ने कहा—यह कैसे हो सकता है, मैंने तो स्पष्ट रूप से उसका रंग नीला देखा है ? उस व्यक्ति ने पुनः उत्तर दिया—हाँ, ठीक ही देखा है तुमने !

"ईश्वर का रूप भी तो ऐसा ही है। जिसने जिस रूप में देखा है, उसी रूप में उसे जानता है।'

ट्रेन चल रही है। चन्द्रमा की छटा में दिग्दिगन्त आलोकित हो उठा है। मानो एक स्वप्नलोक की सृष्टि हुई है।

श्रीरामकृष्ण समाधिस्थ हैं। मन मानो सीमा को त्यागकर असीम में खो चुका है। रात्रि की समाप्ति के साथ चलने का भी अन्त हुआ। ट्रेन वैद्यनाथधाम में खड़ी हुई। मथुरामोहन सावधानीपूर्वक श्रीरामकृष्णदेव को गाड़ी से नीचे लाते हैं। वैद्यनाथ मन्दिर का शिखर आकाश में सिर ऊँचा करके खड़ा है। श्रीरामकृष्ण अपने दोनों हाथ माथे से लगाकर देवाधिदेव महादेव को प्रणाम करते हैं।

"सेजो बाबू* ! दक्षिणेश्वर के महाकाल यहाँ विराजित हैं—एक और रूप में।"

× × ×

लंकेश्वर ने देवाधिदेव महादेव को तपस्या से तुष्ट किया है। कामना है, लंका में उन्हें प्रतिष्ठित करने की। पिनाकपाणि सहमत तो हुए, पर एक शर्त रख दी—रास्ते में कहीं भी मुझे उतार न सकोगे। दशानन राजी हुआ। स्वर्ग के देवता विचलित हो उठे। अब क्या उपाय किया जाय ? शंकर का सहाय पाकर लंकेश्वर तो अजेय हो उठेगा। देवताओं के सहायतार्थ वरुणदेव आगे आये। लंकेश्वर के उदर में उन्होंने अपनी बैठक जमायी।

दशानन कैलास से लंका की ओर चल रहा है। मस्तक पर नीलकण्ठ विराजमान हैं। रास्ता लम्बा है। रावण का मन आनन्द से भरपूर है। किन्तु यह अचानक क्या हुआ उसे ? वह मूत्रवेग सँभालने में असमर्थ हो गया।

* मथुरामोहन को पारिवारिक परिचितों एवं कर्मचारियों में 'सेजो बाबू' के नाम से पुकारा जाता था।

अब उपाय क्या ? स्वयम्भू को जमीन पर रखें कैसे ? वह वचनबद्ध जो है। हठात् कहीं से एक ब्राह्मण सामने आकर उपस्थित हुआ। दशानन को मानो स्वर्ग मिल गया। महारुद्र को उसके हाथ पर रखकर कुछ क्षण के लिए अपेक्षा करने को कहा। उसने ब्राह्मण को बार बार यह चेतावनी भी दी कि त्रिलोचन को किसी भी प्रकार से भूमि का स्पर्श न हो। विप्रवेशी देवता ने बात मान ली।

बहुत देर हो गयी। क्या हो गया, लंकेश्वर का लौटना अब तक कैसे नहीं हुआ ? ब्राह्मण अधीर हो उठा। महेश्वर को पृथ्वी पर रखकर अन्तर्धान हो गया।

दशानन लौटकर आया। किन्तु ब्राह्मण कहाँ गया ? देखा कि महेश्वर पृथ्वी पर अकेले ही पड़े हैं। वह अपनी भरपूर शक्ति से उन्हें उठाने लगा। पर महादेव ने तो भूमि का आश्रय ग्रहण कर लिया था। दशानन में कहाँ सामर्थ्य कि उन्हें उठाये ? बस, महादेव रह गये वहाँ अचल-अटल होकर। क्रोध से रावण व्याकुल हो उठा। वृष ध्वज के मस्तक पर प्रचण्ड आघात कर वह लंका की ओर चला गया और भद्र वहीं रह गये।

अनेक वर्षों पश्चात् कुछ ब्राह्मणों द्वारा उस महालिंग का आविष्कार हुआ। धूमधाम से पूजा होने लगी। पुजारियों को अर्थोपार्जन भी होने लगा। किन्तु प्रमादी हो जाने के कारण पूजापाठ में शिथिलता आ गयी और धीरे धीरे सब कुछ बन्द हो गया।

इस शिवलिंग के पास ही अन्य लोगों ने तीन शिलाओं की प्रतिष्ठा की और उनकी पूजा करने लगे। उनमें से एक

ने जिसका नाम बैजू था, अवहेलित शिवलिंग को देखकर, उसे शक्तिहीन समझा। बैजू ने निश्चय किया कि वह प्रत्येक दिन एक बार त्रिलोकेश्वर के मस्तक पर प्रहार करेगा। यदि त्रिपुरारि में शक्ति होगी, तो इसका प्रतिरोध करेंगे। उसी दिन से उसका वह कार्य प्रारम्भ हो गया।

दिन बीतते गये। त्रिशूली के मस्तक पर प्रहार करने में बैजू को एक दिन की भी भूल न होती। एक दिन उसकी गाय कहीं खो गयी। उसे खोजने में सारा दिन बीत गया। सन्ध्या होने पर बैजू घर लौट आया। सारा दिन अनाहार में बीता। बैजू का देह-मन क्लान्त, अवसन्न हो उठा। आहार-सामग्री जुटाकर जैसे ही भोजन करने बैठा कि उसे अपनी प्रतिज्ञा की याद हो आयी—'शिव पर प्रहार करना है।' बस, भोजन वहीं रह गया। बैजू लाठी लेकर शिवलिंग की ओर दौड़ा।

बैजू की निष्ठा से महादेव प्रसन्न हो उठे—"बैजू, तुम्हारी सत्यनिष्ठा से मैं मुग्ध हूँ। मेरे सब पुजारी मुझे भूल गये हैं, पर तुम नहीं भूले। अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए भूखे होते हुए भी यहाँ दौड़ते आ गये हो। तुम्हें वरदान देना चाहता हूँ। बोलो, तुम्हारी क्या इच्छा है?"

"प्रभु, वैसे तो मेरी कोई कामना नहीं है। फिर भी यदि वरदान देना ही चाहते हो तो यह वर दो कि हमारे द्वारा प्रतिष्ठित शिला का मन्दिर तुम्हारे 'नाथ' नाम से अभिहित हो।"—प्रार्थना की बैजू ने।

भूतनाथ बैजू की सरलता से प्रसन्न हो गये। "ठीक

है, आज से तुम्हारा नाम बैजनाथ या वैद्यनाथ होगा। मेरा मन्दिर भी तुम्हारे इस नाम से ही जाना जायगा।"

× × ×

स्टेशन से बाहर आकर श्रीरामकृष्ण खड़े हुए। उन्हें वहाँ दुर्भिक्ष की कराल छाया दृष्टिगोचर हुई। ग्रामवासी भूखे थे। न सिर पर तेल था, न तन पर कपड़ा, न पेट में अन्न। शिवस्थान में ऐसी स्थिति !

"यह क्या देख रहा हूँ, सेजो बाबू ? भूखे नर-नारायण ? ये ही तो वैद्यनाथ हैं। इनके ही भीतर तो वे विराज रहे हैं।"—अश्रुपूरित हो उठे श्रीरामकृष्ण।

"इनके सिर पर तेल और तन पर एक कपड़ा दो, सेजोबाबू ! एक दिन इन्हें पेट भर खिला दो। इन लोगों के खुश न होने पर ईश्वर भी प्रसन्न नहीं होंगे। देवता का मन्दिर केवल ईंट और पत्थर का स्तूप बनकर रह जायगा।"

"तीर्थयात्रा में बहुत खर्च है, बाबा। यहीं इनके पीछे इतना खर्च कर डालेंगे तो आगे रुपये की कमी हो जायगी। हम लोग मुश्किल में पड़ेंगे।"—कातरकण्ठ से मथुरामोहन ने कहा।

"साला ! रातदिन रुपये का हिसाब करके ही रह गया। तू माँ का दीवान है न ! इनके मुँह में यदि एक मुट्ठी अन्न नहीं दे सकता है, तो जा अपने दलबल को लेकर तीर्थ में। मैं नहीं जाऊँगा इन्हें छोड़कर। इनके पास ही रह जाऊँगा। भूखे नारायण थोड़े से अन्न के लिए हाहाकार कर रहे हैं। इन्हें आहार न देकर

केवल तीर्थयात्रा में खर्च करने से क्या फल मिलेगा ?" —कंगाल की तरह आतुर अंजलि पसारे खड़े हैं श्रीरामकृष्ण।

"इन्हें रुलाकर पुण्य-संचय ? इन्हें छोड़कर तीर्थयात्रा ? धिक् तुम्हें, सेजोबाबू !"—आन्तरिक पीड़ा से श्रीरामकृष्ण का कण्ठावरोध होने लगा।

मथुरामोहन चिन्तित हो उठे। संकल्प का क्या होगा ? अन्ततोगत्वा उन्हें कलकत्ता से रुपये-कपड़े आदि मँगाने पड़े। ग्रामवासी भोजन पाकर तृप्त हुए। तन को ढाकने के लिए उन्हें कपड़े मिले। रूक्ष केशों का मालिन्य तेल से दूर किया। श्रीरामकृष्ण का अन्तर्मन आनन्द से भर उठा।

"गरीबों का यदि दुःख दूर न कर सके, तो क्या होगा तीर्थदर्शन से ? काहे का पुण्यसंचय ? बाबा वैद्यनाथ नरदेह धारण कर तुम्हारी सेवा ही तो माँग रहे हैं। इनसे मुँह फेरकर यदि चले जाओगे, तो तुम्हारे पूजापाठ से क्या होगा ? क्या होगा तीर्थभ्रमण से ? सब कुछ व्यर्थ हो जायगा, सेजोबाबू !"

श्रीरामकृष्ण की बातों से मथुरामोहन की आँखें छलछला आयीं। श्रीरामकृष्ण अनाथशरण हैं, आर्तों के प्रति उनमें अद्‌भुत संवेदना है। श्रद्धा से मथुरामोहन का मन भर उठा। "यह तो ईश्वर प्राप्त करना नहीं, यह तो ईश्वर होना है। भूमा में इनका समग्र चैतन्य परिव्याप्त हो चुका है। इनके अन्तर में विश्व का निवास है। नर को इन्होंने नारायण के रूप में देखा है। इनकी सेवा, इनका साहचर्य जन्म-जन्मान्तर के पुण्यफल के बिना कहाँ सम्भव

है ? धन्य हूँ मैं, जो मुझे इन्होंने सेवक के रूप में ग्रहण किया है !"

रासमणि के चार कन्याएँ हैं। पद्ममणि, कुमारी, करुणामयी और जगदम्बा। धनवान् घर की लाड़ली बिटियाँ हैं। प्राचुर एवं लाड़-प्यार के मध्य बड़ी हुई हैं। पद्ममणि का विवाह सिंगी के रामचन्द्र के साथ हुआ है। कुमारी सोनाबेड़िया (खुलना) के प्यारी मोहन चौधुरी की पत्नी हुई है। करुणामयी के स्वामी हैं मथुरामोहन— बेथुरी ग्राम (२४ परगना) के जयचन्द्र विश्वास के पुत्र। मथुरामोहन शिक्षित, विचक्षण, तीक्ष्णधी एवं न्यायपरायण थे। महर्षि देवेन्द्रनाथ के सहपाठी थे एवं नये विचारों से अनुप्राणित थे। दरिद्र घर की सन्तान होते हुए भी सत्पुरुष थे। रूपवान् देखकर ही रासमणि ने उन्हें अपने ज़ामाता के रूप में ग्रहण किया था।

रासमणि के जामाताओं में वे ही श्रेष्ठ थे। मथुरा-मोहन के विवाह के दो वर्ष पश्चात् ही करुणामयी की मृत्यु हो गयी। रासमणि के अनुरोध पर उन्होंने जगदम्बा के साथ पुनः विवाह किया। जामाताओं में वे तृतीय थे और अब वे सबसे छोटे हो गये। किन्तु सर्व-साधारण के लिए वे 'सेजोबाबू' ही रह गये। उन्हें किसी भी दिन 'छोटाबाबू' नहीं होना पड़ा।

रासमणि ने मथुरामोहन को पहचानने में गलती नहीं की। वे समझ गयी थीं कि यह विचक्षण पुरुष उनके लिए सभी विषयों में सहायक होगा। आगे चलकर वे जमींदारी सम्बन्धी समस्त कार्य उनसे परामर्श करके ही

सम्पन्न करती थीं। रासमणि के अन्तर्मन में जो आध्यात्मिक भावधारा धीरे धीरे प्रकाशित हुई थी, उसमें वृद्धि मथुरामोहन ने ही की थी। यही नहीं, रासमणि के शिल्पीमन की कल्पनाओं को वास्तव में उन्हींने रूपायित किया था।

श्रीरामकृष्ण ने एक दिन माँ से प्रार्थना की थी—"माँ, मुझे एक बड़ा आदमी जुटा दे। केवल ऐश्वर्य से ही नहीं—औदार्य और हृदय से भी।" और माँ ने ऐसा आदमी जुटा भी दिया। वे ही थे 'सेजोबाबू'।

पुष्प के सौरभ से आकर्षित होकर मधुपायी कहाँ से खिचकर चला आता हैं। सौरभ से विह्वल हो मधुभण्डार को ढूँढ़ता है, गुंजन करता है और पुष्प की सुधा का पान करते ही अपनी सारी चंचलता खो बैठता है, अपना अस्तित्व भूल जाता है। उसका सारा मन आनन्द से भर उठता है और वह मधुमय हो जाता है।

मथुरामोहन का भी तो ऐसा ही हुआ था। जिस युक्ति, सन्देह, परखने की मनोवृत्ति को लेकर वे आये थे, वह सब कहाँ अचानक एक दिन खो गया। अमृतकुम्भ का पता जो उन्हें चल गया। उनका समस्त मन-प्राण रामकृष्णमय हो उठा।

(क्रमशः)

●

श्रीरामकृष्ण के प्रिय भजन (४)

स्वामी : वागीश्वरानन्द

(रामकृष्ण मठ, नागपुर)

(१३)

रचयिता—महाराजा रामकृष्ण

(राग—बहार : ताल—झपताल)

जय काली जय काली बोले जदि आमार प्राण जाय।
शिवत्व होइवो प्राप्त, काज कि वाराणसी ताय ॥
अनन्तरूपिणी काली, कालीर अन्त केबा पाय।
किंचित् माहात्म्य जेने शिव पड़ेछेन राँगा पाय ॥

(भावानुवाद)

(राग—बहार : ताल—तीनताल)

'जय काली जय काली' कहते अगर देह से निकले प्राण।
सहज प्राप्त होवे शिवपद, क्यों वृथा करूँ काशी-प्रस्थान ॥
अनन्तरूपा काली माँ का अन्त कौन सकता है जान।
चरणतले पड़ गये शम्भु हैं माँ की किंचित् महिमा जान ॥

(१४)

रचयिता—रामप्रसाद

(धुन—प्रसादी : ताल—एकताल)

अभयपदे प्राण सँपेछि।
आमि आर कि जमेर भय रेखेछि ॥

काली नाम कल्पतरु हृदये रोपण कोरेछि।
ए देह बेचे भवेर हाटे दुर्गानाम किने एनेछि॥
देहेर मध्ये सुजन जे जन, तार घरेते घर कोरेछि।
एबार शमन एले हृदय खुले देखाबो भेबे रेखेछि॥
सारात्सार तारानाम, आपन शिखाग्रे बेंधेछि।
रामप्रसाद बोले दुर्गा बोले, जात्रा कोरे बसे आछि॥

(भावानुवाद)

(राग—मिश्र झिंझोटी : ताल—कहरवा)

अभय-चरण में प्राण दिया है।
अब तो यम-भय रह न गया है॥
कालीनाम कल्पतरु मैंने अपने हिय में लगा दिया है।
देह बेच संसार-हाट से दुर्गानाम खरीद लिया है॥
देहमध्य जो सुजन बसे हैं उसके संग निवास किया है।
यम आने पर हृदय खोलकर दिखला दूँगा—सोच लिया है॥
परम-सार तारिणीनाम अब निज शिखाग्र में बाँध लिया है।
'दुर्गा दुर्गा' कह भवजल में अपना बेड़ा छोड़ दिया है॥

(१५)

रचयिता—**राजा नवचन्द्र**

(राग—मिश्र : ताल—झपताल)

एमनि महामायार माया रेखेछे कि कुहक करे।
ब्रह्मा विष्णु अचैतन्य जीवे कि ता जानते पारे॥
बिल करे घुणी पाते, मीन प्रवेश करे ताते।
गतायातेर पथ आछे, तबु मीन पालाते नारे॥
गुटिपोकाय गुटि करे पालालेओ पालाते पारे।
महामायाय बद्ध गुटि आपनार जाले आपनि मरे॥

(भावानुवाद)

(राग—सिंधु : ताल—दीपचन्दी)

क्या अजब भ्रमजाल तूने छा रखा है महामाये।
विष्णु-ब्रह्मा भी अचेतन, जीव कैसे जान पाये॥
जाल में जा मीन अपने आपको लेता फँसाये।
भागने का पथ खुला है, किन्तु मीन न भाग पाये॥
कोश रच निज लार ही से कीट खुद को ले फँसाये।
धन्य माया! कोश में निज प्राण भी देता गँवाये॥

(१६)

रचयिता—अज्ञात

(राग—भैरवी : ताल—एकताल)

मा त्वं हि तारा, तुमि त्रिगुणधरा परात्परा।
आमि जानि गो ओ दीनदयामयी तुमि दुर्गमेते दुखःहरा॥
तुमि जले तुमि स्थले, तुमि आद्यमूले गो मा।
आछो सर्वघटे अक्षपुटे साकार आकार निराकारा॥
तुमि सन्ध्या तुमि गायत्री, तुमि जगद्धात्री गो मा।
अकूलेर त्राणकर्त्री, सदाशिवेर मनोहरा॥

(भावानुवाद)

(राग—भैरवी : ताल—तीनातल)

हे माँ तुम ही तारिणी।
तुम परात्परा त्रिगुणधारिणी॥

हे दीनदयामयि तुम्हीं एक दुर्गम भव में दुःखहारिणी॥

तुम ही जल में, तुम ही स्थल में,
आदिशक्ति तुम विश्वमूल में।
निराकार तुम, साकारा तुम,
साक्षी घट-घट विहारिणी ॥
तुम ही सन्ध्या, तुम गायत्री,
जगजननी तुम ही जगधात्री।
शिवमनमोहिनि तुम्हीं एक
भवमग्नजनोद्धारकारिणी ॥

●

मन तो स्वभाव से ही चंचल हैं। इसलिए शुरू-शुरू में मन को स्थिर करने के लिए प्राणायाम करते हुए ध्यान किया जा सकता है। इससे मन को स्थिर करने में सहायता मिलती है। लेकिन इसे अधिक नहीं करना चाहिए। इससे सिर गरम होता है। तुम भले ही ईश्वर-दर्शन या ध्यान की बातें करो, पर ध्यान रखो, मन ही सब कुछ है। जब मन स्थिर होता है, तो सब कुछ मिल जाता है।

—माँ सारदा

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(दो।४८, डाक-तार नगर, भोपाल)

(१) तन को जोगी सब करें

माता के कहने पर राजा गोपीचन्द ने राजपाट का त्याग किया और वह गुरु गोरखनाथ का शिष्य हो गया। पहले ही दिन गोरखनाथ ने उसे भिक्षा लाने के लिए कहा। राजा जब लोगों के पास गया, तो उसे 'राजा' जान उन्होंने मुक्त हस्त से सिक्के और आभूषण दिये। राजा ने सोचा कि माँ से भी कुछ भिक्षा मिल सकती है, अतः जब वह माता के पास गया, तो उसने कहा, 'ध्यान रख, मैं एक गृहस्थ स्त्री हूँ और तू एक योगी पुरुष। मैं तुझे जो भी भिक्षा दूंगी, वह तेरे पास हमेशा के लिए नहीं रह सकती। फिर भी तू मेरे द्वार पर याचक बनकर आया है, इसलिए मैं तुझे तीन बातें दे रही हूँ, तू उन्हें उपदेश न मानकर ग्रहण कर। पहली बात यह कि रात को मजबूत किले में रहना; दूसरे, स्वादिष्ट भोजन ही ग्रहण करना और तीसरे, नर्म-मुलायम बिस्तर पर पड़े रहना।"

गोपीचन्द ने सुना तो हैरान रह गया, बोला—"माँ, मैं तो तेरे उपदेश से साधु बना था और अब तू ही मुझे ऐसा उपदेश दे रही है, मानो तू एक साधु को नहीं, बल्कि राजा को दे रही है।"

माता बोली, "योगी, तूने मेरी बातों को गलत

समझा। 'मजबूत किले में रहने' का अर्थ है—राजा के समान भोग-विलास में न पड़कर अपने गुरु की संगति में रहना। गुरु की संगति से बढ़कर मजबूत किला कोई नहीं है। ऐसे मजबूत किले में रहने से तेरे मन में जरा भी कुविचार नहीं उठेंगे। दूसरी बात का आशय यह है कि थोड़ा ही खाना और भूखे रहना। तू जो भी रूखा-सूखा खाएगा, वही तेरे लिए स्वादिष्ट रहेगा। और तीसरी बात कि 'नर्म-मुलायम बिस्तर पर सोना'—इसका मतलब यह है कि तुझे दिन-रात जागते रहना चाहिए। जहाँ भी नींद आए, उस जगह पर सो जाना, फिर वहाँ कंकड़ और पत्थर क्यों न हों। नींद आने पर ये तेरे लिए नर्म-मुलायम बिस्तर के ही समान होंगे और तेरी नींद में ये जरा भी बाधक न होंगे।"

(२) जाकी रही भावना जैसी

सुल्तान नासिरुद्दीन की उसके एक दोस्त से कई वर्षों के बाद मुलाकात हुई। वह उसके गले मिला, मगर उसके खराब वस्त्र देख उसके मन में करुणा जागी और उसने अपने लिये सिले कपड़े उसे पहनने को दिये। ये कपड़े उसने अपने लिये सिये तो थे, मगर उन्हें कीमती जान वह पहनने में हिचकिचाता था और उसने उन्हें कभी पहना ही न था।

भोजन करने के बाद नासिरुद्दीन मित्र से बोला, "चलो, मैं तुम्हें अपने मित्रों से परिचय कराता हूँ।" रास्ते में मित्र के शरीर पर अपने कीमती कपड़े देख नासिरुद्दीन सोचने लगा, "यह तो बिलकुल अमीर जान पड़ता है और

मैं उसका एक नौकर। मगर कपड़े तो अब वापस लिये नहीं जा सकते।"

इतने में उसके एक मित्र का घर दिखायी दिया। वे दोनों अन्दर गये। नासिरुद्दीन जब मित्र से उसका परिचय कराने लगा, तो उसका ध्यान वस्त्रों की ओर गया और वह बोला, "यह मेरा बरसों पुराना दोस्त है। इसने जो कपड़े पहने हैं, वे मेरे ही हैं।" दोस्त ने जब सुना, तो उसे बुरा लगा। उसने उस समय तो कुछ नहीं कहा, मगर रास्ते में उसने कहा, "आपको यह नहीं कहना था कि ये आपके कपड़े थे।"

"ठीक है! अब मैं ऐसा नहीं कहूँगा," नासिरुद्दीन ने जवाब दिया। मगर रास्ते में जब एक परिचित से मुलाकात हुई, तो अपने दोस्त का परिचय कराते समय कपड़ों की ओर ध्यान गया, और उसके मुँह से निकल पड़ा, "इन्होंने ये जो कपड़े पहने हैं, वे मेरे नहीं हैं, इन्हीं के हैं।"

दोस्त को फिर बुरा लगा और उसने रास्ते में कहा, "आपको 'मेरे कपड़े नहीं हैं' ऐसा नहीं कहना था।" नासिरुद्दीन ने अफसोस जाहिर करते हुए कहा, "मेरी जबान धोखा खा गयी।" उसने निश्चय किया कि अब वह कपड़ों का भी जिक्र नहीं करेगा, मगर उसके अन्तर्चक्षुओं को तो वे कपड़े ही दिखायी दे रहे थे, इसलिए तीसरे मित्र से मुलाकात होने पर उसके मुँह से निकल पड़ा, "ये मेरे घनिष्ठ दोस्त हैं, बीस वर्ष बाद आये हैं। बड़े अच्छे हैं, मगर मैं यह नहीं बताऊँगा कि इन्होंने जो कपड़े पहने हैं, वे मेरे हैं या इनके।"

अब दोस्त से न रहा गया। उसे गुस्सा आया और उसने वापस लौटकर कपड़े वापस कर दिये और वह चलता बना। नासिरुद्दीन को बड़ा पश्चात्ताप हुआ, किन्तु वास्तविकता यह थी कि नासिरुद्दीन के निःस्पृह और निर्लोभी होते हुए भी चंचल मन के आगे उसकी एक न चली। मन में दबी हुई बात किसी न किसी रूप में प्रकट हो जाती थी।

(३) सबतें कठिन राजमदु भाई

ओरछा-नरेश मधुकरशाह महात्मा व्यासदास से बड़े प्रभावित थे और उन्हें राजगुरु-पद पर प्रतिष्ठित किया। किन्तु वीतरागी सन्त का मन भला राजवैभव में कैसे रमता? वे एक दिन वृन्दावन जा पहुँचे और सन्त हितहरिवंश से दीक्षा लेकर वहीं वास करने लगे। बात जब नरेश को मालूम हुई, तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ और उन्हें वापस लाने के लिए उन्होंने मंत्री को वृन्दावन भेजा। मंत्री ने सन्त हितहरिवंश को सारी बातें बतायीं और व्यासदास को वापस ले जाने की उनसे आज्ञा भी प्राप्त कर ली। यह बात जब व्यासदासजी को मालूम हुई, तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने अपने मुख पर कालिख पोत ली और एक गधे पर बैठकर वे गुरु के पास गये।

गुरु ने जब देखा, तो पूछा, "यह क्या स्वाँग रचा रखा है तुमने?" व्यासदास ने उत्तर दिया, "मैंने जिन चरणों का आश्रय लिया है, वे ही जब मुझे वृन्दावन से बाहर भेज रहे हैं, तो मैंने सोचा कि अपना मुँह काला कर और गधे की सवारी करके क्यों न राजवैभव का भोग लेने

वापस जाऊँ ?" गुरु ने उनकी दृढ़ इच्छा देखकर मंत्री से अनिच्छा व्यक्त की।

किन्तु राजा को एक सन्त पुरुष का अपने राज्य से चले जाने का बड़ा दुःख हो रहा था, अतः वे स्वयं वृन्दावन जा पहुँचे और उन्होंने व्यासदासजी से वापस चलने की न केवल प्रार्थना की, बल्कि उनके अस्वीकार करने में पालकी में बिठाकर ले जाना चाहा। तब उनके मुख से ये शब्द निकल पड़े—

"मोसों पतित न अनत समाई।

याही ते में श्रीवृन्दावन की सरन गह्यो है आई।"

अब राजा को भी विश्वास हो गया कि सन्त ओरछा में एक पल भी नहीं रह सकते। उन्होंने सन्त को अपने साथ ले जाने का विचार त्याग दिया और उनसे क्षमा माँगी।

(४) संगति के परताप महातम

सन्त जलालुद्दीन एक बार बादशाह से मिलने उसके महल में गये। बात जब शिष्यों को मालूम हुई, तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ क्योंकि उन्होंने कुरान में पढ़ा था कि फकीर को राजा या अमीर के महल में नहीं जाना चाहिए।

सन्त के वापस आने पर एक शिष्य ने उनसे कहा, "हमने कुरान में पढ़ा है कि फकीर को महल में नहीं जाना चाहिए, मगर आप इस नियम का उल्लंघन कर वहाँ गये। बादशाह को ज़रूरत थी, तो वह ख़ुद आ सकता था।"

जलालुद्दीन ने कहा, "तुम लोग क्यों माथापच्ची कर रहे हो। मैं उसके पास जाऊँ, या वह मेरे पास आए, बात

एक ही है। वही मेरे पास आया था, ऐसा क्यों नहीं सोचते ?" सन्त ने आगे कहा, "बादशाह को मेरे पास आने की फुरसत ही कहाँ है, अज्ञानी जो ठहरा ! और मैं चाहता हूँ कि मुझसे जितना भी बन पड़े, उसकी संगति करूँ। मैं उसके पास जाऊँगा, तो वह भी मेरे पास आने की कोशिश करेगा। मैं उसके पास कुछ माँगने के लिए तो गया ही नहीं था। मैं तो उसे देने गया था और वह चीज थी— नसीहत, जिससे कि उसके जीवन में तबदीली आए और वह सदाचारी, सहिष्णु और सहृदय बने। वह हमेशा अपने दरबारियों से घिरा रहता है और मैं चाहता था कि कुछ क्षणों के लिए क्यों न हो, वह उनसे दूर रहे और अपने मन के मुताबिक काम करे। रही बात कुरान के नियम की, तो उस आयत का मतलब यह है कि फकीर को अमीर के पास इसलिए नहीं जाना चाहिए कि वह वहाँ के ऐशो-आराम की चीजों को देख लोभ और मोह में न पड़े। फकीर की संगति तो उसे नेकी की राह दिखा सकती है।"

(५) अन्त्यज के जलकुम्भ में

राजा पीपा को एक बार सत्संग की इच्छा हुई। उसने अपने वजीर से किसी अच्छे महात्मा के बारे में पूछताछ की। वजीर ने उसे सन्त रविदास का नाम बताया और यह भी कहा कि वे जाति के चमार हैं। यह सुन राजा सोचने लगा कि यदि लोगों ने सुना कि वह एक चमार के पास गया था, तो लोग उसका धिक्कार करेंगे, इसलिए अकेले ही जाना उचित है और वहाँ से आकर स्नान किया जा सकता है।

एक दिन राजा सन्ध्या समय चुपके से सन्त रविदास की झोंपड़ी में गया और उनसे उपदेश देने की प्रार्थना की। रविदास उस समय जूते सी रहे थे। उन्होंने पास के डोल का पानी राजा की अंजलि में देते हुए कहा, "पहले आप चरणामृत ग्रहण करें।" यह सुनते ही राजा के मन में विचार उठा कि यह तो जाति का चमार है अतः चरणामृत कैसे लिया जा सकता है, पर इसे लेने से इनकार भी नहीं किया जा सकता। उसने चरणामृत ले तो लिया किन्तु सन्त की आँख बचाकर अपने कुरते की खुली आस्तीन में डाल दिया। सन्त से भला यह बात कैसे छिप सकती थी, तथापि वे चुप रहे। उन्होंने राजा से बाद में आने के लिए कहा।

वापस आते समय राजा खुश था कि उसने कितनी चालाकी से एक अस्पृश्य का जल ग्रहण करने से अपनी रक्षा कर ली थी। उसने तुरन्त कुरता निकालकर उसे धोने के लिए धोबी को दे दिया।

धोबी जब कुरते को धोने लगा कि अचानक उसकी १० वर्ष की बालिका वहाँ आयी और उसने वह कुरता छीनकर आस्तीनवाला भाग चूस डाला। ज्योंही उसने वह कुरता वापिस किया कि उसने धर्मोपदेश देना शुरू कर दिया। घाट के सारे धोबी वहाँ इकट्ठे हो गये और उसके धर्मोपदेश को सुन विस्मित रह गये। फिर तो अन्य लोगों की वहाँ अच्छी-खासी भीड़ जम गयी।

थोड़ी ही देर में बात पीपा तक जा पहुँची कि धोबी की कन्या धर्मोपदेश देती है। उसके मन में उत्कण्ठा हुई और वह

धोबी के घर गया। राजा को आया देख वह कन्या उठ खड़ी हुई। तब राजा ने उसे बैठने के लिए कहा। कन्या बोली, "राजन्! मैं आपको सम्मान देने के लिए खड़ी नहीं हुई, मैं तो आपको धन्यवाद देना चाहती हूँ कि मुझे जो उपलब्धि हुई है, वह आपकी ही कृपा से हुई है।" राजा की कुछ समझ में नहीं आया। तब अपने कथन को स्पष्ट करते हुए उसने कहा, "यदि आपने सन्त रविदास द्वारा दिये गये चरणामृत को अपने आस्तीन में न डाला होता और उस आस्तीन को मैंने चूसा न होता, तो मुझे यह ज्ञान प्राप्त न होता।"

राजा ने जो सुना, तो उसे पश्चात्ताप हुआ और वह तुरन्त सन्त रविदास की कुटिया में गया। वह उनके चरणों पर गिर पड़ा और उसने उनसे माफी माँगी। सन्त ने कहा, "राजन्! मैं तो आपको अमृत देना चाहता था, किन्तु वह आपके भाग्य में नहीं था, अन्यथा वह एक धोबी की कन्या के मुख में कैसे जाता और उसे कैसे ज्ञान की प्राप्ति होती?"

●

काम के नाश का उपाय

(गीताध्याय ३, श्लोक ४१-४३)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवारीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

पिछली चर्चा में हमने देखा कि भगवान् कृष्ण काम-क्रोध को जीवात्मा का सबसे बड़ा शत्रु निरूपित करते हैं। वे बतलाते हैं कि किस प्रकार काम इन्द्रिय, मन और बुद्धि में अपना डेरा जमा लेता है और उन सबको भरमाता रहता है। उनके माध्यम से वह जीवात्मा को भी मोह में डाल देता है। अतः हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम काम के इस खेल को पहचानें और इन्द्रिय-मन-बुद्धि में उसके जो डेरे बने हुए हैं, उन्हें ध्वस्त कर दें। जैसे मधु-मक्खियों के छत्ते को जला देने से मधुमक्खियाँ उसे छोड़-कर चली जाती हैं, उसी प्रकार यदि काम के ये डेरे जला दिये जायँ, तो काम को वहाँ से निकल भागने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इसके लिए क्या उपाय किया जाय यह अगले श्लोकों में बताया गया है।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहिह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

भरतर्षभ (हे भरतवंश-श्रेष्ठ) तस्मात् (इसलिए) त्वम् (तुम) आदौ (पहले) इन्द्रीयाणि (इन्द्रियों को) नियम्य (संयत कर) ज्ञानविज्ञाननाशनं (ज्ञान और विज्ञान के नाशक) पाप्मानं (पाप रूप) हि (नश्चय ही) एनं (इसे) प्रजहि (मार डालो)।

हे भरतर्षभ ! इसलिए तू पहले इन्द्रियों को संयत कर ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाले इस पापी काम को मार ही डाल।"

वस्तुतः काम का मन और बुद्धि में प्रवेश इन्द्रियों के माध्यम से ही होता, है, इसलिए पहले इन्द्रियों का नियमन करना चाहिए। काम मन और बुद्धि के दुर्ग में बैठकर इन्द्रियों के माध्यम से रसद लेता रहता है। जैसे बीते युगों में शत्रु अपने दुर्ग में छिप जाता था और गुप्त रास्तों से उसके पास रसद पहुँचायी जाती थी, वैसे ही यह काम है। इन्द्रियों के माध्यम से रसद पाकर वह पुष्ट होता रहता है। जैसे शत्रु को आत्मसमर्पण हेतु विवश करने के लिए उसकी रसद के सारे रास्ते बन्द कर दिये जाते थे, उसी प्रकार जब यहाँ भी हम काम को रसद पहुँचानेवाली इन्द्रियों के रास्तों को बन्द कर देंगे, तब रसद के अभाव में मन और बुद्धि में पैठे हुए काम को आत्मसमर्पण के लिए बाध्य होना पड़ेगा। जैसे घी के अभाव में अग्नि धीरे धीरे शान्त हो जाती है, वैसे ही रसद के अभाव में यह कामाग्नि भी क्रमशः ठण्डी पड़ जायगी और तब उसको बुझाना सहज हो जायगा। इसलिए यहाँ पर भगवान् पहले इन्द्रियों के नियमन की बात कहते हैं। वे अर्जुन को 'भरतर्षभ' शब्द से सम्बोधित कर मानो यह संकेत करते हैं कि तू तो उन्हीं भरत के वंश में पैदा हुआ है, जो महान् इन्द्रिय-जयी थे। तब तू अपनी इन्द्रियों पर विजय कैसे नहीं पा सकेगा ?

कुछ व्याख्याकार इन्द्रियों को मात्र उपलक्षण मानते हैं और यह कहते हैं कि 'इन्द्रिय' पद से मन और बुद्धि को

भी ग्रहण करना पड़ेगा। उनके मतानुसार इन्द्रिय, मन और बुद्धि तीनों का निग्रह करते हुए काम को मार डालना चाहिए।

'प्रजहिहि' शब्द के दो प्रकार से अर्थ किये जाते हैं। एक तो 'जहिहि' के रूप में, जब उसका अर्थ होता है 'बिलकुल त्याग देना'। और दूसरा, जब 'प्रजहि' और 'हि' को अलग अलग लिखा जाता है। तब उसका अर्थ होता है 'बिलकुल मार डालना'। कर्मयोगी कहेगा कि काम को एकदम मारो मत, बल्कि उसे नियन्त्रण में लाकर उससे अच्छे अच्छे कर्म करा लो। इसलिए कर्मयोगी काम के त्याग पर जोर देता है। पर ज्ञानयोगी कहेगा कि काम बड़ा दुष्ट है, उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता, वह बहुरुपिया है, उसके प्रति तनिक भी सहानुभूति नहीं रखनी है, क्योंकि वह ज्ञान और विज्ञान दोनों को नष्ट कर देता है, वह महापापी है, उसे एकदम नष्ट कर देना चाहिए और ऐसा नष्ट करना चाहिए कि वह फिर से उत्पन्न न होने पाए। काम के प्रति ये दो दृष्टिकोण हैं, पर हम दोनों से लाभ ले सकते हैं। हम पहले इन्द्रिय, मन और बुद्धि का नियमन करते हुए काम का त्याग करें और उसे धीरे धीरे दुर्बल बनाकर पूरी तरह से मार डालें। यहाँ पर काम का सर्वथा त्याग ही अभिप्रेत है।

ज्ञान का अर्थ है परोक्ष ज्ञान—हमने गुरुमुख से जो सुना और शास्त्रों में जो पढ़ा। और मनन-निदिध्यासन आदि के फलस्वरूप जो अपरोक्ष-जैसा ज्ञान होता है, वह है विज्ञान। 'गीता' में ज्ञान और विज्ञान शब्द एकाधिक

वार आये हैं। आचार्य शंकर विज्ञान का अर्थ 'स्वानुभव-संयुक्त ज्ञान' करते हैं। तो, यह काम ऐसा प्रबल है कि मनुष्य के परोक्ष ज्ञान को तो नष्ट कर ही डालता है, साथ ही उसकी अनुभूति को, अपरोक्ष ज्ञान को भी नष्ट कर देता है। रामायण में वर्णित नारद-मोह इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

प्रश्न उठता है कि जब काम ऐसा दुर्जय है, तब इसे मारना क्या सम्भव है ? भगवान् कहते हैं कि हाँ, सम्भव है। पर उसे मारने की विधि जान लेनी चाहिए। हम शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि में रहकर काम को नहीं मार सकते, क्योंकि इन स्थानों पर स्वयं काम का आधिपत्य है। हमें तो इनके ऊपर आत्मतत्त्व तक उठना होगा और वहाँ स्थित हो काम पर वार करना होगा। भगवान कहते हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इन्द्रियाणि (इन्द्रियों को) पराणि (श्रेष्ठ) आहुः (कहते हैं) इन्द्रियेभ्यः (इन्द्रियों से) मनः (मन) परं (श्रेष्ठ है) मनसः (मन से) तु (केन्द्र) बुद्धिः (बुद्धि) परा (श्रेष्ठ है), यः (जो) तु (परन्तु) बुद्धेः (बुद्धि से) परतः (परे है) सः (वह [आत्मा है])।

महाबाहो (हे वीरश्रेष्ठ) एवं (इस प्रकार) बुद्धेः

(बुद्धि से) परं (परे) बुद्ध्वा (जानकर) आत्मानम् (अपने को) आत्मना (अपने द्वारा) संस्तभ्य (नियन्त्रित करके) कामरूपं (कामरूप) दुरासदं (दुर्जय) शत्रुं (शत्रु को) जहि (मार) ।

'इन्द्रियों को (शरीर से) श्रेष्ठ कहते हैं, मन इन्द्रियों से श्रेष्ठ है, और बुद्धि मन से श्रेष्ठ है, परन्तु जो बुद्धि से भी परे है, (वह आत्मा है) ।"

"हे महाबाहु अर्जुन ! इस प्रकार (आत्मा को) बुद्धि से परे जानकर अपने आप को अपने द्वारा नियन्त्रित करके इस दुर्जय कामरूप शत्रु को मार डाल ।"

यहाँ पर शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और आत्मा की जो उत्तरोत्तर श्रेष्ठता दिखायी गयी है, वह कोई सृष्टि-तत्त्व के सन्दर्भ में नहीं, बल्कि साधना की दृष्टि से यह विचार प्रस्तुत किया गया है। इन दोनों श्लोकों की व्याख्या अलग अलग टीकाकारों ने भिन्न भिन्न प्रकार से की है। हमें उन सब व्याख्याओं के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। हमें जीवन-साधना की दृष्टि से जो विचार उपयोगी दिखेंगे, उन्हें वे जहाँ से भी मिलें हम ग्रहण करेंगे।

विचार करने की एक दृष्टि यह है कि शरीर से लेकर आत्मा तक हम वैचारिक यात्रा करें और बीच के प्रत्येक पड़ाव का विश्लेषण करते हुए उसके ऊपर के पड़ाव में पहुँचे। जैसे हम शरीर से यात्रा प्रारम्भ करते हैं। यह बाहर की यात्रा न हो भीतर की यात्रा है, इसमें भौतिक दूरी नहीं लाँघनी होती। यहाँ की दूरियाँ सब मानसिक हैं। इस

आन्तरिक यात्रा का पहला पड़ाव इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियों के कारण ही शरीर गतिशील होता है। वे इस स्थूल शरीर को प्रकाश देती हैं। इन्द्रियों की अपेक्षा स्थूल शरीर जड़ है। उसे शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध का अनुभव इन्द्रियों ही के माध्यम से होता है। जैसे यदि किसी की घ्राणेन्द्रिय नष्ट हो जाय, तो उसके शरीर के लिए गन्ध का कोई महत्त्व नहीं रहेगा। यदि किसी की श्रोत्रेन्द्रिय नष्ट हो जाय, तो उसके शरीर के लिए वज्रध्वनि और कोकिल-कण्ठ में कोई अन्तर नहीं रहेगा। इस प्रकार ये इन्द्रियाँ स्थूल शरीर से श्रेष्ठ हुईं। फिर मन इन्द्रियों से श्रेष्ठ है, क्योंकि मन यदि इन्द्रिय के साथ युक्त न हो, तो उस इन्द्रिय के विषय का ज्ञान नहीं हो पायगा। नेत्र ने विषय के साथ युक्त हो रूप की संवेदना तो प्रकट की, पर यदि मन चक्षु-रिन्द्रिय से लगा हुआ न हो, अन्य किसी विचार में निमग्न हो, तो उसे रूप की संवेदना का अनुभव नहीं होगा। हर इन्द्रिय के साथ यही सत्य है। अतः इन्द्रियों की अपेक्षा मन का श्रेष्ठ होना स्वतःसिद्ध है। फिर मन से श्रेष्ठ है बुद्धि, क्योंकि निश्चय करनेवाला तत्त्व मन नहीं, बुद्धि है। मन तो सारे विषयों को बुद्धि के पास ले जाकर उपस्थित कर देता है। उन पर विचार करके निश्चय करने का काम बुद्धि करती है। इसलिए बुद्धि मन से भी श्रेष्ठ प्रमाणित हुई। पर बुद्धि सर्वश्रेष्ठ नहीं है, उसके परे है वह, जिसे आत्मा, जीवात्मा, देही या शरीरी कहा जाता है। कारण यह कि बुद्धि में अपना चैतन्य नहीं है। वह तो जड़ है, पर उसमें जो चैतन्याभास है, वह आत्मा के कारण है। आत्मा

का प्रकाश बुद्धि को प्रकाश देता है। वह आत्मा के चैतन्य के कारण चेतन-सी दिखायी देती है। इसलिए आत्मा सबसे ऊँचा है, सर्वश्रेष्ठ है। यह ४२वें श्लोक का कथ्य है।

४३वें श्लोक में कहते हैं कि जब एवंविध आत्मविचार से यह निश्चय कर लिया कि आत्मा बुद्धि से परे है, तब अपने को अपने द्वारा नियन्त्रित कर लो और दुर्जय कामरूप शत्रु को मार डालो। इसका क्या तात्पर्य ? यह कि पहले आत्मविचार करो और विचार के द्वारा आत्मा तक पहुँच जाओ, यह जान लो कि आत्मा के चैतन्य से ही बुद्धि-मन-इन्द्रियाँ-शरीर सब चेतनवान् से लगते हैं। यह जान लो कि काम का प्रभाव बुद्धि तक ही है। अतः जब तक तुम बुद्धि से ऊपर नहीं उठोगे, काम तुम्हें प्रभावित करता रहेगा। इसलिए तुम बुद्धि से उठकर आत्मा तक पहुँचो और उसमें स्थित हो जाओ। तत्पश्चात् अपने को अपने द्वारा नियन्त्रित करो, अर्थात् आत्मचैतन्य में स्थित हो बुद्धि और मन की चंचलता को शान्त करो। बुद्धि-मन की चंचलता के कारण ही आत्मा भी चंचल मालूम पड़ता है। जैसे सरोवर के जल के नाचने के कारण उसमें प्रतिबिम्बित सूर्य भी नाचता दिखायी देता है, इसी प्रकार यह आत्मचैतन्य भी बुद्धि-मन के सम्पर्क के कारण परिणामी और चंचल प्रतीत होता है। जैसे सूर्य के स्वरूप को जानने के लिए जल के ऊपर उठकर सूर्य को देखना होगा, उसी प्रकार बुद्धि से ऊपर उठने पर ही आत्मा के स्वरूप

का बोध होगा। और तब यह अनुभव होगा कि काम का प्रभाव-क्षेत्र बुद्धि तक ही सीमित है।

ऐसा बोध प्राप्त करना काम को मारने की पहली सीढ़ी है। दूसरी सीढ़ी है अपने को अपने द्वारा नियन्त्रित करना। आचार्य शंकर इसका अर्थ बताते हुए लिखते हैं— 'संस्तभ्य सम्यक् स्तम्भनं कृत्वा स्वेन एव आत्मना संस्कृतेन मनसा सम्यक् समाधाय इत्यर्थः'—अर्थात् शुद्ध मन से आत्मा को अच्छी प्रकार समाधिस्थ करके। बुद्धि-मन के चंचल रहते उनकी चंचलता का प्रतिबिम्ब आत्मा पर भी पड़ता है। मन की चंचलता को दूर करने का अर्थ है उसे शुद्ध बनाना। जब हम आध्यात्मिक साधना द्वारा बुद्धि-मन की चंचलता को दूर करते हैं, अन्तःकरण को स्थिर-शान्त बनाने में समर्थ होते हैं, तब आत्मचैतन्य पूरी तरह से उसमें प्रतिबिम्बित होता है और हम अन्तःकरण से यानी बुद्धि से ऊपर उठकर बिम्ब आत्मा में स्थित हो जाते हैं। यही 'संस्तभ्यात्मानमात्मना' का अर्थ है। इसी अवस्था में हम काम को मारने में समर्थ होते हैं। आत्मा में स्थित होकर बुद्धि, मन, इन्द्रियों और शरीर को देखने से उनमें स्थित काम जलकर नष्ट हो जाता है। यह आत्मदृष्टि ही पुराणों में शिव की तीसरी दृष्टि के रूप में प्रसिद्ध है, जिसके खुलते ही काम जलकर राख हो जाता है।

यहाँ पर पुनः भगवान् कृष्ण काम को शत्रु कहते हैं, यह भी कि काम 'दुरासद' है। 'दुरासदम्' का अर्थ होता है—जो बड़ी कठिनाई से वश में किया जाता है—दुर्जय। फिर कहते हैं कि यह शत्रु 'कामरूप' है। कामरूप का एक अर्थ है

'तृष्णारूप' और दूसरा अर्थ है 'बहुरुपिया'। काम तृष्णा ही तो है, तृष्णा काम का लक्षण है। हवस तृष्णा का ही दूसरा नाम है। काम को बहुरुपिया इसलिए कहा कि वह अनेक रूप धारण करता है। रावण-मेघनाद आदि राक्षस दुर्जय इसलिए थे कि वे अनेक रूप धारण कर लेते थे, इसलिए उनको पहचानना कठिन हो जाता था। यह काम भी इसी अर्थ में दुर्जय है। यदि वह हरदम पाप के रूप में दिखायी देता, तो उसको मारना आसान था, पर वह तो कभी कभी पुण्य के रूप में भी दिखायी देता है। जब राक्षस राक्षस के रूप में दिखे, तब उसको मारना कठिन नहीं है, पर यदि राक्षस सन्त का रूप बना ले, तब विवेक का संकट तो आ ही जाता है। बुराई जब बुराई के रूप में आती है, तो उसका नाश किया जा सकता है, पर यदि वह भलाई का बाना पहनकर आये, तो पहले वह भ्रम उत्पन्न कर देती है। काम ऐसा ही बहुरुपिया है, जो प्रयोजन के अनुसार नाना रूप धारण कर लेता है। इसीलिए भगवान् उसे 'दुरासद' कहते हैं। वे अर्जुन को 'महाबाहु' कहकर पुकारते हैं। उनका तात्पर्य यह है कि तू तो महावीर है, तू अवश्य इस शत्रु को मारने में समर्थ होगा, तू हतोत्साहित न हो।

विचार करने की दूसरी दृष्टि यह है कि हम शरीर इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और आत्मा को परस्पर कार्य कारण के सम्बन्ध के माध्यम से देखें। जो कार्य है, वह स्थूल है इसलिए कारण उसकी अपेक्षा सूक्ष्म और इसलिए श्रेष्ठ होगा। कार्य कारण से उत्पन्न होता है, इसलिए कारण में

उसको लीन किया जा सकता है। अब स्थूल शरीर आदि की कारण है इन्द्रियाँ, क्योंकि वे प्राणात्मक हैं, सूक्ष्म तन्मात्राओं से उनका निर्माण होता है। ये सूक्ष्म तन्मात्राएँ स्थूल पंचमहाभूतों को प्रकट करती हैं, जिनसे यह स्थूल प्रपंच बना है। इस प्रकार स्थूल प्रपंच हुआ कार्य-रूप और सूक्ष्म प्रपंच यानी इन्द्रियाँ हुईं कारणरूप। इसी प्रकार, ये इन्द्रियाँ मन के ही विकार हैं, अर्थात् मन इन्द्रियों का कारण है, इसलिए उसे इन्द्रियों से परे कहा गया। बुद्धि मन का कारण है, क्योंकि मन को विषय लेकर बुद्धि के सामने उपस्थित होना पड़ता है। मन केवल संकल्प-विकल्प कर सकता है, जबकि बुद्धि निश्चय करती है इसलिए वह मन की अपेक्षा सूक्ष्मतर है। बुद्धि से भी परे यह चैतन्यरूप आत्मतत्त्व है। चेतन आत्मतत्त्व ही सबका कारण है। मायिक जगत् में उसकी प्रथम अभिव्यक्ति मनोरूप ही होती है। अतः कार्य को अपने कारण में विलीन करते हुए आत्मा में उपनीत होना है। शरीर का लय इन्द्रियों में, इन्द्रियों का मन में, मन का बुद्धि में तथा बुद्धि का आत्मा में करना है। यह ध्यानयोग की विशिष्ट प्रक्रिया है। यह लय हमें विचार के द्वारा करना है। इससे हमारी धारणा पुष्ट होती है। फिर आत्मा में स्थिर होकर अपने को यानी अपने मन-बुद्धि को अपने आत्मबोध के द्वारा नियन्त्रित करके कामरूप शत्रु को विनष्ट करना है। 'गीता' में अन्यत्र भी अपने द्वारा अपने नियन्त्रण की बात कही गयी है—'उद्धरेदात्मनात्मानम्' (६।५)—अपने द्वारा अपने आपका उद्धार करे।

'कठोपनिषद्' में ४२वें श्लोक के ही अनुरूप अर्थवाले श्लोक हमें प्राप्त होते हैं, जहाँ कारण में कार्य को लीन करने का आदेश देते हुए कुछ और कार्य-कारण की कड़ियाँ दी गयी हैं। वहाँ कहा है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥ १।३।१०-११

—अर्थात्, 'इन्द्रियों की अपेक्षा उनके विषय श्रेष्ठ हैं, विषयों से मन उत्कृष्ट है, मन से बुद्धि पर है और बुद्धि से भी महान् आत्मा (महत्तत्व = अहंकार) उत्कृष्ट है। महत्-तत्त्व से अव्यक्त (मूल प्रकृति) पर है और अव्यक्त से भी पुरुष पर है। पुरुष से पर और कुछ नहीं है। वही (सूक्ष्मत्व की) पराकाष्ठा है, वही परा गति है।' अब यहाँ पर इन्द्रियों और मन के बीच में विषयों को लिया गया है। इसी प्रकार बुद्धि और आत्मा के बीच में महत्-तत्त्व और अव्यक्त ये दो पड़ाव और लिये गये हैं। 'गीता' में विषयों को इन्द्रियों के अन्तर्गत ले लिया गया है तथा महत्-तत्त्व और अव्यक्त को बुद्धि के। हम यहाँ पर इनकी विस्तार से विवेचना नहीं करने जा रहे हैं, केवल यही प्रदर्शित कर रहे हैं कि उपनिषद् भी इस कार्य-कारण-शृंखला को मान्यता देते हैं। विषयों को इन्द्रियों से परे इसलिए कहा कि विषय के कारण ही इन्द्रिय बनती है। यदि शब्द न हो तो श्रवणेन्द्रिय कहाँ से रहेगी? अर्थात्, विषय पहले हैं, बाद में इन्द्रियाँ। इसी लए

विषयों को इन्द्रियों से उत्कृष्ट कहा। फिर विषयों का अस्तित्व मन पर निर्भर है। इसलिए मन को विषयों से परे बतलाया। बुद्धि की मन से श्रेष्ठता का विवेचन ऊपर किया ही जा चुका है। फिर बुद्धि से श्रेष्ठ महत्-तत्त्व को बतलाया। यह महत्-तत्त्व समष्टि अहंकार है, वेदान्त की भाषा में ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ की उपाधि है। बुद्धि भले ही निश्चय करे, पर अहंकार जब तक आज्ञा न दे, कोई क्रिया नहीं होगी। बुद्धि अहंकार का अनुवर्तन करती है। इसलिए अहंकार को बुद्धि से श्रेष्ठ कहा। उससे भी श्रेष्ठ है अव्यक्त—मूल प्रकृति। कार्य-कारण-श्रृंखला यहीं से प्रारम्भ होती है। जगत् का उन्मेष यहीं से होता है। इसे वेदान्त ने 'ईश्वर' की उपाधि निरूपित किया है। और सबसे ऊपर है वह जिसे वेदान्त ने समष्टि के सन्दर्भ में 'ब्रह्म' कहा है और पुरुष, व्यष्टि के सन्दर्भ में 'आत्मा'। इस आत्मदेव की लीला के लिए ही जगत्प्रपंच का खेल होता है। तो, यहाँ पर विचार के द्वारा शरीर का इन्द्रियों में, इन्द्रियों का उनके विषयों में, विषयों का मन में, मन का बुद्धि में, बुद्धि का अहंकार में, अहंकार का अव्यक्त में और अव्यक्त का आत्मा में लय करना चाहिए। इस ध्यानयोग की प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए 'कठोपनिषद्' कहता है—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥ १।३।१३

—'विवेकी पुरुष वाक्-इन्द्रिय को मन में लीन करे, मन का लय प्रकाशस्वरूप बुद्धि में करे, बुद्धि को महत्तत्त्व में लीन करे और महत्-तत्त्व को शान्त आत्मा में लीन करे।'

यहाँ पर वाक्-इन्द्रिय का प्रयोग सभी इन्द्रियों का उपलक्षण कराने के लिए है, यानी समस्त इन्द्रियों का लय मन में करे यह अर्थ है।

यहाँ ध्यानयोग की प्रक्रिया मनुष्य के अन्तर्मुखीन बनने की प्रक्रिया है और वेदान्त की ही पंचकोशभेदन की प्रक्रिया के समान है। वेदान्त कहता है कि अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय ये पाँच कोश आत्मा को मानो लपेटे हुए हैं। अन्नमय कोश यह स्थूल शरीर है, यह सबसे बाहर का आवरण है। इसके भीतर है प्राणमय कोश, जिसके अन्तर्गत इन्द्रियाँ आती हैं। इसके भी भीतर है मनोमय कोश, जिसका राजा मन है। इसके और भी भीतर है विज्ञानमय कोश, जिसका राजा है बुद्धि। उसके भी भीतर है आनन्दमय कोश, जिसका राजा है अहंकार। इस अहंकार के साथ अव्यक्त सम्मिलित है। बाहरी कोश का लय उसके तुरन्त भीतरवाले कोश में करना उसका भेदन कहलाता है। अन्त में आनन्दमय कोश का लय उस आत्मा में किया जाता है, जिसे परात्पर पुरुष की संज्ञा दी गयी है। यही पंचकोश-भेदन की प्रक्रिया है, जिसके द्वारा आत्मा में उपनीत होकर साधक कामरूप दुर्जय शत्रु का संहार कर सकता है।

यह पंचकोश वेदान्त की कोई कल्पना नहीं है, वरन् ऋषियों द्वारा अनुभूत सत्य है। आज आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में इसी प्रकार की एक मान्यता घर कर रही है। एक प्रसिद्ध जीवाश्मशास्त्री हो गये हैं पियरे टेलार्ड डे शार्डों (Pierre Teilhard de Chardin)। उन्होंने The Pheno-

menon of Man के नाम से एक ग्रन्थ लिखा है। उसमें वे जगत् के चार स्तरों या लोकों (layers) की बात लिखते हैं। सबसे बाहर का स्तर है—Physical, उसके भीतर है Biospherical layer, उसके भी भीतर है Psychical layer, और उसके भी भीतर है Noospherical layer। अब प्रथम तीन का अनुवाद तो क्रमशः अन्नमय स्तर, प्राणमय स्तर और मनोमय स्तर के रूप में किया जा सकता है। Nosophere को वे Background Material (आधारभूत पदार्थ) के रूप देखते हैं। वे लिखते हैं—'The greatest revelation open to science today is to perceive that everything precious, active, and progressive, originally contained in that cosmic fragment from which our world emerged, is now concentrated in and crowned by noosphere'—अर्थात्, "आज विज्ञान के सामने जो सबसे बड़ा रहस्योद्घाटन हुआ है, वह यह है कि जो कुछ मूल्यवान्, गतिशील और विकासोन्मुख है—जो मूलतः ब्रह्माण्ड के उस टुकड़े में बन्द था जिससे हमारा संसार निकला है—वह अब 'नूस्फीयर' में घनीभत और उसके द्वारा सुशोभित है।' इस 'नूस्फीयर' की किंचित् धारणा विज्ञानमय कोश के आधार पर की जा सकती है, पर हमारी विज्ञानमय कोश की धारणा उसकी अपेक्षा कई गुना अधिक स्पष्ट और सार्थक है।

इस सन्दर्भ में यह भी बतादें कि स्वामी विवेकानन्द का विश्व और उसके विभिन्न स्तरों या लोकों के सम्बन्ध में एक मजेदार सिद्धान्त है। ये विभिन्न लोक द्रव्य और

ऊर्जा जिन्हें सांख्य दर्शन आकाश और प्राण कहता है, की विभिन्न मात्राओं से उत्पन्न हुए हैं। निम्नतम या सबसे घनीभूत स्तर है सूर्यलोक या सौर्य जगत्, जिसके अन्तर्गत यह दृश्यमान जगत् आता है, जिसमें प्राण की अभिव्यक्ति भौतिक शक्ति के रूप में होती है और आकाश की इन्द्रियग्राह्य द्रव्य के रूप में। उसके बाद है चन्द्रलोक, जो सूर्यलोक को आवेष्टित करता है। वह यह चन्द्रमा नहीं है, बल्कि देवताओं का निवासस्थान है। उस चन्द्रलोक में प्राण मानसिक शक्तियों के रूप में प्रकट होता है और आकाश तन्मात्राओं के रूप में। उसके भी परे विद्युल्लोक है, जहाँ प्राण और आकाश एकदम अभिन्न-से हैं; वहाँ यह बताना कठिन ही होगा कि विद्युत् द्रव्य है या शक्ति। उसके भी ऊपर है ब्रह्मलोक, जहाँ प्राण और आकाश अलग अलग नहीं हैं, बल्कि दोनों महत्-तत्त्व (mind-stuff) में—आदिशक्ति में विलीन हो जाते हैं। प्राण और आकाश के अभाव में जीव समग्र विश्व की धारणा समष्टिमन के पूर्ण योग (हिरण्यगर्भ) के रूप में करता है। यह पुरुष के रूप में प्रतिभात होता है, पर यह भी परात्पर पुरुष या पुरुषोत्तम या निरपेक्ष ब्रह्म नहीं, क्योंकि इस अवस्था में भी बहुलत्व बना रहता है। इस ब्रह्मलोक से जीव अन्त में उस परम एकत्त्व में उपनीत होता है, जो भौतिक विकास की पराकाष्ठा और अन्तिम लक्ष्य है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार ये लोक मात्र दृश्य हैं, जो क्रम से आत्मा के सामने उत्थित होते हैं। आत्मा स्वयं न कहीं आता है, न जाता। यह इन्द्रियग्राह्य जगत् भी,

जिसमें मनुष्य रहता है, इसी प्रकार का एक दृश्य है। प्रलय के समय ये दृश्य स्थूल से सूक्ष्म में लीन होते होते धीरे धीरे विलीन हो जाते हैं। हिन्दू दार्शनिकों द्वारा सृष्टि-तत्त्व की यह जो चर्चा की जाती है, उसका मुख्य उद्देश्य यह होता है कि मनुष्य के अन्तःकरण में इस सापेक्ष जगत् के प्रति वैराग्य का भाव जन्म ले।

तो, इस प्रकार 'कर्मयोग' नामक यह तीसरा अध्याय समाप्त होता है। यहाँ पर भगवान कृष्ण ने कर्म करने पर जोर दिया है, यह बताया है कि मनुष्य एक क्षण भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता, इसलिए वह कर्म करे, पर उसे यज्ञ बनाते हुए करे। यह सारी प्रकृति निरन्तर यज्ञ-कर्म में लगी हुई है, हम भी अपने कर्मों के माध्यम से इस विराट् यज्ञ में आहुति देते हुए असंग बने रहें। कर्म करते हुए जब कर्तापन और भोक्तापन न हो, तो कर्म अकर्म बन जाता है और हम संसार में रहकर भी उससे अलिप्त बने रहते हैं। हमारी इस असंगता, निर्लेपता में काम बाधक होता है। वह हम पर शासन करना चाहता है। पर हमें अपने भीतर यह विचार उठाना चाहिए कि मेरा शासक क्या काम-क्रोधादि रिपुदल होगा अथवा आत्मा ? इस शरीररूपी साम्राज्य का सम्राट् कौन होगा ? और अध्यात्म-विचार के द्वारा यह निर्णय लेना चाहिए कि आत्मा ही मेरा राजा है और ध्यानयोग के सहारे आत्मा में स्थित हो कामरूप शत्रु का नाश कर डालना चाहिए। इसी में कर्मयोग की पूर्णता है।

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें :—
देवेन्द्रनाथ मजूमदार

स्वामी प्रभानन्द

('श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें' इस धारावाहिक लेख-माला के लेखक स्वामी प्रभानन्द रामकृष्ण मठ और मिशन, बेलुड़मठ के संन्यासी हैं। उन्होंने ऐसी मुलाकातों का वर्णन प्रामाणिक सन्दर्भों के आधार पर किया है। उन्होंने यह लेख-माला रामकृष्ण संघ के अँगरेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के लिए तैयार की थी, जिसके मई, १९७६ अंक से प्रस्तुत लेख साभार गृहीत और अनुवादित हुआ है।—स०)

"कौन कहता है कि ईश्वर नहीं है? ईश्वर जरूर होना चाहिए, नहीं तो अघोरनाथ को कौन बचाता ?"—पागल के समान देवेन्द्रनाथ चिल्ला उठे। भगवान् के लिए उनकी गहरी छटपटाहट ने उन्हें इधर-उधर बहुत दौड़ाया था। पर कोई लाभ न हुआ था। अब अपने मामा श्री हरीश मुस्तफी की बैठक में बैठकर वे साधु अघोरनाथ[1] की जीवनी के पन्ने पलट रहे थे। उसमें वे उस घटना पर पहुँचे, जहाँ अघोरनाथ डाकुओं के एक दल के हाथ में पड़ गये थे, पर आश्चर्यजनक रूप से मारे जाने से बच गये थे।

---

१. "साधु अघोरनाथेर जीवन चरित' (बँगला) तृ० सं०, पृ० ३१-३। ब्रह्मचारी प्राणेशकुमार लिखित 'महात्मा देवेन्द्रनाथ' (बँगला), कलकत्ता, बंगाब्द १३३७, पृ० ३५ से उद्धृत।

इसे पढ़कर देवेन्द्रनाथ अभिभूत हो उठे, वे तत्काल अपने घर लौट गये और कमरे में अपने को बन्द कर कातरभाव से भगवान् से प्रार्थना करने लगे। बीच बीच में वे इतने विह्वल हो जाते कि दीवाल पर अपना सिर पटकने लगते। इस प्रकार बिना खाये-पिये और सोये तीन दिन और तीन रातें बीत गयीं। चौथे दिन सुबह छत पर चढ़कर उगते सूरज की ओर देखते हुए वे कह उठे—"कौन कहता है कि ईश्वर नहीं है ? यह देखो उसके ऐश्वर्य की एक झलक !" और अब उनके अन्तर्मन ने उन्हें बिना समय गँवाये अपने आध्यात्मिक गुरु को खोज लेने के लिए प्रेरित किया।

जैसोर (अब बँगला देश में) के जगन्नाथपुर नामक गाँव में सन् १८४४ में एक ब्राह्मण-परिवार में जन्मे देवेन्द्रनाथ का लालन-पालन धार्मिक वातावरण में हुआ था। उनके पिता श्री प्रसन्ननाथ बन्द्योपाध्याय मजूमदार (बाद में परिवार ने बन्द्योपाध्याय लिखना छोड़ दिया था) का निधन तब हो गया जब देवेन्द्र दो मास के ही थे, इसलिए देवेन्द्र के बड़े भाई सुरेन्द्रनाथ ने परिवार के भरण-पोषण का भार अपने ऊपर ले लिया था। उनकी माता बामासुन्दरी धार्मिक प्रवृत्ति की थीं, उनका देवेन्द्र पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था। बालक देवेन्द्र ने एक पाठशाला में पाँच-छह वर्ष तक अध्ययन किया था, परन्तु वे प्रतिभावान् विद्यार्थी नहीं थे, न ही उनका प्रचलित शिक्षा के प्रति कोई रुझान ही था। परन्तु अपने अग्रज सुरेन्द्रनाथ के संस्पर्श में, जिनका कवि के रूप में अच्छा नाम हो गया था, देवेन्द्र में बँगला साहित्य के प्रति रुचि जाग्रत् हो

गयी। सत्ताइस वर्ष की आयु में अपनी माँ के आमरण-अनशन की धमकी के फलस्वरूप उनको विवाह करना पड़ा। इसके आठ वर्ष बाद सुरेन्द्र की मृत्यु हो गयी, इसलिए परिवार का भार बड़े कष्टों के साथ देवेन्द्र को वहन करना पड़ा। उन्होंने जोड़ासांको के टैगोर परिवार के मैनेजर के आफिस में क्लर्क की नौकरी कर ली और अहीरीटोला, कलकत्ता की नीमू गोस्वामी लेन में एक छोटा-सा मकान किराये पर ले लिया।

धार्मिक स्वभाव के होने के कारण इसी बीच उन्होंने अपने बड़े भाई से योगाभ्यास सीख लिया था। ग्यारह वर्ष के श्रद्धायुक्त अभ्यास से उन्हें तरह तरह के दर्शनादि होते। पर ये सब उन्हें सन्तुष्ट न कर सके, क्योंकि उनकी ईश्वर के साक्षात् दर्शन करने की प्रबल इच्छा थी। वे केशव चन्द्र सेन के ब्राह्मसमाज में जाने लगे। उनका केशव से परिचय हुआ, जो उस समय ब्राह्मसमाज के नेताओं में सबसे लोकप्रिय थे। परन्तु वे भी देवेन्द्र की आन्तरिक पिपासा को शान्त करने के लिए आध्यात्मिक रूप से उतना पहुँचे हुए सिद्ध न हुए।

इसलिए अब वे पूरी लगन के साथ अपने लिए सद्गुरु की खोज में लग गये। एक दिन वे कालना के सुप्रसिद्ध वैष्णव सन्त भगवानदास बाबाजी के दर्शन के लिए निकले, पर विलम्ब होने से स्टीमर छूट गया और उनका जाना न हो सका। वापस लौटते समय वे अपने परिचित नगेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय के यहाँ पथुरियाघाट स्ट्रीट में रुक गये। नगेन्द्रनाथ घर पर नहीं थे, पर उनकी

मेज पर एक पुस्तक[२] पड़ी थी, जिसे उठाकर देवेन्द्र यूं ही पलटने लगे। अचानक उनको भाग्य से उसमें दक्षिणेश्वर के रामकृष्ण परमहंस के सम्बन्ध में जानकारी मिली। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि परमहंस एक बहुत पहुँचे हुए आध्यात्मिक पुरुष हैं और उनसे उनको सहायता मिल सकती है। गम्भीर भाव से सोचते हुए वे घर की ओर चल पड़े। रास्ते में एक अन्य परिचित से भेंट हुई, जिसने परमहंस के निवास का पता दिया। घर पहुँचकर, सम्भवत: कुछ पैसे ले वे तत्काल दक्षिणेश्वर के लिए निकल पड़े। वह फरवरी, १८८४[३] के पूर्वार्धं का कोई दिन था। तब सुबह के लगभग दस बजे थे।

---

२. गुरुदास बर्मन लिखित 'श्रीश्रीरामकृष्ण चरित' (बँगला) (श्री कालीनाथ सिन्हा, कलकत्ता, प्रथम प्रकाशन) भा० १, पृ० २७६ के अनुसार वह पुस्तक त्रैलोक्यनाथ सान्याल लिखित 'भक्ति-चैतन्य-चन्द्रिका' (बँगला) (पृ० ६३) थी।

३. एक दिन जनवरी, १८८४ में श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर के झाऊतला की ओर अकेले जा रहे थे कि उन्हें, जैसा प्राय: होता था, भाव-समाधि लग गयी। वे गिर पड़े तथा उनकी बायीं कलाई की हड्डी सरक गयी। 'म' रचित 'श्रीराम-कृष्णवचनामृत' भाग २, (रामकृष्ण मठ, नागपुर, द्वितीय संस्करण) पृ० १६ से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह घटना ६ जनवरी और १ फरवरी, १८८४ के बीच की है—सम्भवत: ८ जनवरी, १८८४ को केशवचन्द्र सेन की मृत्यु के बाद की। ऐसा उल्लेख आता है कि २ फरवरी को चिकित्सक ने आकर पट्टी बाँधी थी इसलिए उसके पूर्व की

देवेन्द्र ने अहीरीटोला से नाव ली। नौका-यात्रा के दौरान देवेन्द्र ने परमहंस का एक मानसिक चित्र बनाना शुरू किया, क्योंकि उनके सम्बन्ध में उन्होंने थोड़ी ही महत्त्वपूर्ण बातें सुनी थीं। बीच बीच में वे सोचने लगते कि शायद बहुत जल्दबाजी में वे यह यात्रा कर रहे हैं—इतने पहुँचे हुए सन्त से इस प्रकार मिलने की बजाय क्या उन्हें वापिस नहीं लौट जाना चाहिए ? परन्तु तब लौटने का कोई मौका न रहा, क्योंकि नाववाले ने शीघ्र ही दक्षिणेश्वर आ पहुँचने की सूचना दे दी। देवेन्द्र की नजर एक लाल किनारीवाली धोती पहने व्यक्ति पर पड़ी, जिसके हाथ में बैंडेज बँधा था और वह गले में बँधी पट्टी में झूल रहा था। वह व्यक्ति घाट पर इस प्रकार खड़ा था, मानो किसी की आतुरता से प्रतीक्षा कर रहा हो।[४] देवेन्द्र कुछ कम्पित हृदय से नाव से उतरे। पर तब तक वह व्यक्ति आँखों से ओझल हो गया था।

तब घाट पर खड़े एक युवक[५] के बतलाये रास्ते से

ही बात होगी। इससे देवेन्द्रबाबू की भेंट की तिथि का अनुमान लगाया जा सकता है। उस भेंट में हुए वार्तालाप से भी यह स्पष्ट होता है कि ठीक-ठीक इस बात की परीक्षा नहीं हो पायी थी कि हड्डी सरकी है या टूटी है।

४. ब्रह्मचारी प्राणेशकुमार : वही पृ० ३९-४०।

५. स्वामी गम्भीरानन्द : 'श्रीरामकृष्ण-भक्त मालिका' (रामकृष्ण मठ, नागपुर) भा० २, पृ० ३८१। देवेन्द्र ने शीघ्र ही जाना था कि वह युवक निरंजन घोष है, जो बाद में स्वामी निरंजनानन्द के नाम से परिचित हुआ।

चलकर देवेन्द्र श्रीरामकृष्णदेव के कमरे के पश्चिम ओर स्थित ड्योढ़ी में पहुँचे। उन्होंने देखा कि कमरा खाली है; परन्तु उसके शीघ्र बाद एक व्यक्ति वहाँ आया, जिसने पैरों में चट्टी पहन रखी थी तथा जिसकी धोती का एक छोर उसके कन्धे मे झूल रहा था। उसका बायाँ हाथ बैंडेज से बँधा हुआ गले से झूल रहा था। देवेन्द्र पहचान गये कि इन्हीं को उन्होंने घाट पर देखा था। उन्हें ऐसा लगा कि शायद यही वे परमहंस हैं, जिनके दर्शन के लिए वे आये हैं। परन्तु उनकी परमहंसों के सम्बन्ध में जो धारणा थी कि उन लोगों के लम्बे जटा-जूट होते हैं और वे गेरुआ वस्त्र धारण किये रहते हैं आदि आदि, उससे इनका मेल नहीं खा रहा था। देवेन्द्र ने झुककर उनके चरणों की धूलि ली। वे वास्तव में श्रीरामकृष्ण ही थे। उन्होंने ग्रामीण बँगला भाषा में उनसे कहा, "उस दूसरे दरवाजे से भीतर आओ।" देवेन्द्र घूमकर उत्तरी बरामदे के दरवाजे से जब भीतर पहुँचे, तब उन्होंने श्रीरामकृष्ण को अपनी प्रयीक्षा करते पाया। श्रीरामकृष्ण ने कहा, "अपने जूते वहाँ मत छोड़ो; चोर उन्हें उठा ले जाएँगे। उन्हें यहाँ पर रख दो।" देवेन्द्र ने वैसा ही किया और फिर श्रीरामकृष्ण के सम्मुख खड़े हो गये।[६]

श्रीरामकृष्ण उस समय लगभग अड़तालिस वर्ष के थे, और उनकी दाढ़ी के कुछ कुछ केश पकने लगे थे। कुछ दिनों पूर्व वे अचानक गिर पड़े थे, इससे उनकी बायीं कलाई की हड्डी खिसक गयी थी। उस समय तक केशव

---

६. गुरुदास बर्मन : वही, पृ० २७८।

चन्द्र सेन और कलकत्ते के मध्यमवर्गीय अन्य पढ़े-लिखे लोगों का ध्यान श्रीरामकृष्ण की ओर आकृष्ट हो चुका था। यद्यपि श्रीरामकृष्ण ने प्रचलित शिक्षा का स्वयं तिरस्कार कर दिया था, पर लोगों के हृदय की उनकी गहरी पैठ और उच्च आध्यात्मिकता ने उन्हें एक बहुत ऊँचे स्तर का पथ-प्रदर्शक बना दिया था। आनेवाले लोगों की आध्यात्मिक सम्भावनाओं को वे कुशलता से भाँप लेते, जो एक चमत्कार ही था। जो भी आध्यात्मिक झुकाववाले लोग उनसे मिलते, उन पर श्रीरामकृष्ण की स्वाभाविक सरलता और पवित्रता का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता।

श्रीरामकृष्ण ने देवेन्द्र से पूछा, "कहाँ से आ रहे हो?" "कलकत्ते से,"—देवेन्द्र का उत्तर था। श्रीरामकृष्ण तब खड़े हुए थे। उन्होंने अपना एक पैर श्रीकृष्ण की मुद्रा में में आकर्षक ढंग से मोड़ते हुए तथा हाथों को मुरली बजाने की मुद्रा में रखकर देवेन्द्र से पूछा, "अच्छा, इन्हें देखने आये हो?"[७] "नहीं," देवेन्द्र ने उत्तर दिया, "मैं तो महाराज, आपको देखने आया हूँ।" यह सुनकर श्रीरामकृष्ण मानो पीड़ा-भरी आवाज में बोल उठे, "मुझे क्या देखोगे? गिरकर मैंने एक हाथ तोड़ लिया है। यह देखो,—छूकर देखो। यहाँ पर है। देखकर बताओ तो क्या सच में हड्डी टूटी है? बहुत दर्द है! मैं क्या करूँ?"

देवेन्द्र ने हाथ की परीक्षा की। उन्होंने पूछा, "महाराज, आपको यह चोट कैसे लगी?" शिकायत के उसी स्वर में

७. श्रीरामकृष्ण मानो संकेत के माध्यम से पूछ रहे थे कि श्रीकृष्ण की मूर्ति के दर्शन के लिए आना हुआ है क्या?

श्रीरामकृष्ण बोल उठे, "ओह, कभी कभी मेरे मन की विचित्र अवस्था हो जाती है। ऐसी ही अवस्था में कुछ दिन पहले मैं गिर पड़ा और हाथ तुड़वा बैठा। दवाई से कई बार दर्द और बढ़ जाता है। अधर सेन ने कुछ लेप लगाया, पर उससे सूजन और बढ़ गयी। तब से मैंने कुछ लगाना बन्द कर दिया है। अच्छा, क्या मैं फिर से ठीक हो जाऊँगा ?" देवेन्द्र ने थोड़ी देर सोचा। विचार किया कि ये तो सन्त-महापुरुष हैं, वे जल्दी ही स्वस्थ हो जाएँगे, इसलिए उन्होंने सान्त्वना देते हुए कहा, "जरूर ! आप फिर से बिलकुल ठीक हो जाएँगे।"

इससे परमहंस प्रसन्न हो उठे। दूसरों को पुकारकर कहने लगे, "यह देखो, ये कह रहे हैं कि मेरा हाथ फिर से ठीक हो जायगा। ये कलकत्ता के रहनेवाले हैं।" इसके पहले देवेन्द्र ने कभी इतना भोला-भाला व्यक्ति नहीं देखा था। उनके मन में एक संशय कौंध उठा। सोचने लगे— "क्या परमहंस का ऐसा ही स्वभाव होता है ? कहाँ मैं एक सन्त को देखने आया था और कहाँ ये मुझे ही सर्वज्ञ मान रहे हैं ! मेरे शब्दों को ये इतना प्रामाणिक और निर्णायक मान ले रहे हैं। चूंकि मैंने कह दिया है इसलिए वे सोचते हैं कि वे स्वस्थ हो जाएँगे। क्या यह सम्भव है कि किसी व्यक्ति में इस प्रकार बालकवत् विश्वास हो ? हो सकता है, यह सब ढोंग हो !" और ऐसा सोच वे अपने सामने खड़े व्यक्ति को अच्छी तरह परखने के लिए उनके चेहरे की तरफ खूब ध्यान से देखने लगे। उन्होंने पहले ही देखा था कि श्रीरामकृष्ण की देह स्त्रियों की देह के समान

कोमल है और उनका मन एक बच्चे के मन-जैसा साफ है। अब सब मिलाकर श्रीरामकृष्ण के शिशुवत् सरल व्यवहार ने देवेन्द्र के मन पर अनुकूल प्रभाव डाला। उनके मन में श्रीरामकृष्ण के ढोंगी होने के सम्बन्ध में जो संशय उठा था, वह शीघ्र पूरी तरह से मिट गया और वे आश्वस्त हो गये कि ऐसी शिशुवत् सरलता इस व्यक्ति के अन्दर सहज स्वाभाविक रूप से है।[८]

कुछ समय बाद श्रीरामकृष्ण के निर्देश पर हरीश नामक एक युवक ने देवेन्द्र को कुछ प्रसादी मिठाइयाँ दीं। देवेन्द्र ने उन्हें पाया। उसके बाद श्रीरामकृष्ण भगवत्-प्रेम का उपदेश देने लगे। "जानते हो प्रेम—ईश्वर का दिव्य-प्रेम क्या है? ऐसे प्रेम की ऊँची तरंग आने पर मनुष्य बाहरी वस्तुओं से बेखबर हो जाता है, संसार विस्मृत हो जाता है; यहाँ तक कि स्वयं की देह, जो सबसे अधिक प्रिय है, उसका भी भान नहीं रहता। जिस प्रकार आँधी में झाड़ और घर में अन्तर नहीं दिखलायी पड़ता—सब एक से दिखते हैं, उसी प्रकार भगवत्-प्रेम का उदय होने पर भेद-बुद्धि मिट जाती है।" इन शब्दों ने देवेन्द्र को मोहित कर लिया; इसके पूर्व उन्होंने कभी किसी को ऐसा कहते नहीं सुना था। बातचीत के दौरान श्रीरामकृष्ण ने एक बार फिर अधर सेन के नाम का उल्लेख किया, जो डिप्टी मजिस्ट्रेट थे और देवेन्द्र के परिचित थे। वे श्रीरामकृष्ण के पास प्रायः ही आया करते थे। देवेन्द्र को अब श्रीराम-कृष्ण में कुछ अनोखापन महसूस होने लगा और उनके प्रति

८. ब्रह्मचारी प्राणेशकुमार : वही, पृ० २७८।

उन्होंने एक गहरे लगाव का अनुभव किया।

मध्याह्न-भोजन का समय हो गया था। श्रीरामकृष्ण देवेन्द्र से बोले, "देखो, उच्चवर्ण के ब्राह्मण लोग यहाँ प्रसाद पाते हैं, क्योंकि यहाँ मन्दिर है। देवता का प्रसाद ग्रहण करने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसलिए तुम भी यहीं प्रसाद पाओ, अभी घर मत जाना।"

देवेन्द्र एक कट्टर ब्राह्मण होने के नाते भोजन के सम्बन्ध में बड़ा विचार करते थे, तथापि श्रीरामकृष्ण के प्रेममय आग्रह ने उनकी झिझक दूर कर दी। श्रीरामकृष्ण ने अपने भतीजे रामलाल को पुकारते हुए कहा, "देख, यहाँ एक धर्मप्रेमी सज्जन आये हैं, ये आज यहीं प्रसाद पाएँगे। इन्हें भगवान् विष्णु को अर्पित किया हुआ प्रसाद देना।" देवेन्द्र तो आश्चर्यचकित रह गये। जब वे श्रीरामकृष्ण से मिले थे, तब उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण की भंगिमा धारण की थी। फिर उन्होंने देवेन्द्र की भोजन सम्बन्धी कट्टरता को ताड़ लिया था, और अब प्रसाद के सम्बन्ध में विशेष हिदायत दे रहे थे। यह सब देख-सुन देवेन्द्र सोचने लगे—'इन्हें कैसे मालूम हो गया कि मैं बचपन से ही कट्टर शाकाहारी हूँ? फिर श्रीकृष्ण के प्रति मेरी स्वाभाविक भक्ति को वे कैसे जान गये? ऐसा लगता है कि निश्चय ही वे दूसरों के भीतर को स्पष्ट देख लेते हैं।' देवेन्द्र ने उसके बाद राधाकान्त-मन्दिर का प्रसाद पाया, यद्यपि उस दिन नियमित स्नान से उन्हें वंचित रहना पड़ा।

श्रीरामकृष्ण ने उन्हें इतना प्रभावित कर दिया था कि वे रामलाल के साथ जब तक रहे, श्रीरामकृष्ण के

सम्बन्ध में ही बातें करते रहे। उसके बाद कुछ विश्राम कर वे श्रीरामकृष्ण के पास आकर बैठ गये। उनके मुखारविन्द से जो भी निकला, वह उन्होंने बड़े ध्यान से सुना। पुनः भगवत्-प्रेम की चर्चा करते हुए श्रीरामकृष्ण कहने लगे, "जीवन का एकमात्र उद्देश्य वृन्दावन के गोप-गोपियों के समान श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम जगाना होना चाहिए। जब श्रीकृष्ण मथुरा चले गये, तब वृन्दावन के गोपगण वृन्दावन की गलियों में उनके बिछोह में बिलखते हुए घूमा करते थे।" इतना कह श्रीरामकृष्ण श्रीकृष्ण विषयक एक उल्लासमय गीत गाने लगे।[९]

देवेन्द्र स्वयं कविहृदय[१०] थे, उस गीत ने उन्हें अन्तस्तल से हिला दिया। प्रेम से भरे मधुर गीत को सुनकर उनकी आँखों में प्रेमाश्रु भर आये। श्रीरामकृष्ण ने उनके हृदय को जीत लिया था।

श्रीरामकृष्ण के कहने पर देवेन्द्र सब मन्दिरों में दर्शन करने गये और लौट आये। कुछ और वार्तालाप के बाद श्रीरामकृष्ण ने पूछा, "मुझे तुम्हारा चेहरा बीमार-सा क्यों दिख रहा है?" देवेन्द्र ने अभी तक अपनी तरफ ध्यान

अक्षय कुमार सेन: 'श्रीश्रीरामकृष्णपुँथि' (बँगला) (उद्बोधन, कलकत्ता, द्वि. सं०), पृ० ३८३।

१०. बहुत से भक्तिपरक भजनों की रचना के साथ देवेन्द्रनाथ ने (बाद में) प्रसिद्ध 'गुरुस्तवाष्टक' की रचना की थी। वह गुरु की स्तुति में 'तोटक' छन्द में आठ श्लोकों की रचना है।

नहीं दिया था; परन्तु अब श्रीरामकृष्ण के अपनत्व-भरे शब्दों को सुन उन्हें भान हुआ कि वे काफी ज्वर-सा महसूस कर रहे हैं। चिन्तित हो श्रीरामकृष्ण ने पूछा, "तुम्हें कोई पुरानी बीमारी तो नहीं है न ?" देवेन्द्र ने बतलाया कि वे मलेरिया ज्वर से आक्रान्त हुए थे, पर पिछले तीन महीने से कोई शिकायत न थी। यह सुन पुत्र के लिए जैसे माँ व्याकुल होती है, उसी प्रकार व्याकुल हो श्रीरामकृष्ण अपने कमरे में टहलने लगे। अन्त में उन्होंने युवक भक्त बाबूलाल को, जो बाद में स्वामी प्रेमानन्द के नाम से परिचित हुए, उनके साथ कर दिया। बाबूराम उसी समय उनके पावन सान्निध्य का लाभ उठाने वहाँ पहुँचे थे। श्रीरामकृष्ण अपने कमरे के पश्चिमी बरामदे में खड़े हो घाट की ओर ताकने लगे। जब एक छतवाली नाव दृष्टिगोचर हुई, तब उनके आदेश से बाबूराम माझी को बुला लाये और यात्रा के लिए उसे तै कर लिया।

देवेन्द्र जब विदा ले रहे थे, तब श्रीरामकृष्ण ने स्नेहभरे शब्दों में कहा, "घर पहुँचकर अच्छे चिकित्सक को दिखलाना और जब बीमारी दूर हो जाय तब यहाँ फिर आना। क्यों आओगे न ?" देवेन्द्र ने उत्तर दिया, "जरूर, महाराज।" बाबूराम का हाथ पकड़कर श्रीरामकृष्ण ने कहा, "तू, दूसरे दिन आना रे। उस दिन मैं तेरे साथ खूब बातें करूँगा। आज तू इनको सहारा देकर इनके घर पहुँचा दे।" वे तट पर खड़े हो उन दोनों को नाव में चढ़कर कलकत्ता जाते हुए देखते रहे। बाबूराम की सहायता से देवेन्द्र उस दिन मुश्किल से अपने एक रिश्तेदार के घर ही

जा पाये, वे और आगे नहीं जा सके। इसके बाद इकतालिस दिन तक वे बहुत बुरी तरह बीमार रहे, ज्वर बहुत चढ़ जाता था, अवसन्नता आ जाती थी और वे प्रायः वेहोश हो जाते थे। उस दीर्घ अवधि में जब कभी वे आँखें खोलते, तो उन्हें लगता कि उनके पास स्नेहमय श्रीरामकृष्ण बैठे हुए हैं। बेहोशी में उन्हें प्रायः ही श्रीरामकृष्ण का नाम लेते सुना जाता। पर जब वे स्वास्थ्य-लाभ कर रहे थे, तब एक विचार उन्हें भीतर ही भीतर परेशान करता रहा—'सन्त के पास जाने से तो शान्ति और भलाई मिलती है। पर इस बार प्राणों पर ही आ बनी थी। अब बहुत हो गया। अव मेरा उस राह पर नहीं जाना ही ठीक है।' इस प्रकार संशय ने फिर से उनके मन को ग्रस लिया। और श्रीरामकृष्ण के इन दर्शनों को उन्होंने मात्र भ्रम समझकर मन से झटक दिया।

इसके बहुत दिन बाद देवेन्द्र ने ब्राह्मसमाज के समाचार-पत्र 'सुलभ-समाचार' में बागबाजार के बलराम वोस के यहाँ श्रीरामकृष्ण के पधारने की खबर पढ़ी। इसको पढ़कर, एक प्रकार से खिंचे हुए-से वे उस दिन बलराम के घर पहुँच गये। वहाँ उन्होंने सन्ध्याकालीन प्रकाश में देखा कि श्रीरामकृष्ण भक्त-मण्डली के साथ कीर्तन करते हुए नृत्य कर रहे हैं। उनके लय-तालबद्ध, गहरी भक्तिभावना अभिव्यक्त करनेवाले नृत्य ने भक्तहृदय देवेन्द्र को बहुत प्रभावित कर दिया। अन्त में श्रीरामकृष्ण समाधिस्थ हो स्थिर खड़े रह गये और भक्तगण उनके चरणों की धूलि लेने लगे। देवेन्द्र भी चुपचाप प्रणाम कर लेना चाहते थे।

पर जैसे ही उन्होंने श्रीरामकृष्ण के चरणों का स्पर्श किया, आश्चर्य में भरकर उन्होंने श्रीरामकृष्ण की मधुर वाणी सुनी। उनमें तब तक कुछ बाह्य चेतना लौट चुकी थी। वे पूछ रहे थे—"कैसे हो ? इतने दिनों तक दक्षिणेश्वर क्यों नहीं आये ? मैं अक्सर तुम्हारे बारे में सोचता हूँ।" इन स्नेहयुक्त शब्दों ने देवेन्द्र के सारे संशयों को पूरी तरह से मिटा दिया, और उन्होंने जल्दी ही दक्षिणेश्वर आने का वचन दिया।

इसके पश्चात् से देवेन्द्र जितना बन पड़ता दक्षिणेश्वर जाने लगे। शीघ्र ही उन्हें लगने लगा कि श्रीरामकृष्ण साधारण सन्तों की अपेक्षा कहीं बहुत अधिक श्रेष्ठ हैं और उनकी कृपादृष्टि से जीव की मुक्ति निश्चित है ! उनसे मिलने के पूर्व देवेन्द्र का ऐसा कोई नहीं मिला था, जिसके जीवन और उपदेश ने उन पर इतना गहरा प्रभाव डाला हो। श्रीरामकृष्ण के अहैतुक प्रेम, पावित्र्य और सन्त-स्वभाव ने देवेन्द्र को पूरी तरह जीत लिया।

एक दिन देवेन्द्र ने मन्त्र-दीक्षा के लिए प्रार्थना की, जिसे श्रीरामकृष्ण ने नम्रतापूर्वक पर दृढ़ता से अस्वीकार कर दिया। परन्तु कुछ दिन बाद यह देखने पर कि देवेन्द्र के अन्दर अभी भी दीक्षा लेने की तीव्र इच्छा बनी हुई है, उन्होंने उनसे कहा, "देखो, तुम्हें कोई विशेष साधना करने की जरूरत नहीं है। तुम सिर्फ ताली बजा-बजाकर 'हरि-नाम' भजा करो। तुम्हारे लिए वही पर्याप्त होगा।"[११]

११. 'उद्बोधन', (बँगला मासिक) वर्ष २६, संख्या २, पृ० ६८।

और सचमुच, इस सरल उपाय से देवेन्द्र को बड़ी शान्ति प्राप्त हुई। इसके कारण तथा श्रीरामकृष्ण के स्नेहमय व्यवहार से खिचकर देवेन्द्र और भी जल्दी जल्दी दक्षिणेश्वर आने लगे।

एक दिन श्रीरामकृष्ण ने उनसे पूछा, "अच्छा, तुम यहाँ बार बार आते हो, 'इस स्थान' (अपनी ओर इंगित करके) के सम्बन्ध में तुम्हारी क्या धारणा है? तुमको कैसा लगता है?" निष्कपट देवेन्द्र ने स्पष्ट उत्तर दिया, "मुझे कोई विशेष बात नहीं लगी। हाँ, अब इधर उधर भगवान् और धर्म के सम्बन्ध में भटकने की इच्छा नहीं रही। फिर मन भी पहले-जैसा अशान्त नहीं है।" श्रीरामकृष्ण ने कहा, "तुमने निस्सन्देह बहुत प्रयास किया है।" फिर देवेन्द्र की अँगुलियों को अपनी दोनों हथेलियों के बीच फँसाते हुए उन्होंने कहा, "परन्तु तलवार ठीक म्यान में नहीं बैठी है। तुम जानते हो सभी का अपना अलग अलग वैशिष्ट्य होता है।"[१२] उसके पश्चात् से देवेन्द्र ने उनके मार्गदर्शन में अपनी साधना को सही दिशा में लगाया।

एक दिन देवेन्द्र श्रीरामकृष्ण के चरणों में साष्टांग दण्डवत् करके संन्यास-व्रत में दीक्षा देने के लिए प्रार्थना करने लगे। श्रीरामकृष्ण राजी नहीं हुए, बल्कि उन्होंने शिष्य को जमीन पर से उठा लिया और वे चैतन्य महाप्रभु की जन्मदायिनी शचीमाता के हृदय की व्यथा को चित्रित करनेवाला गीत गाने लगे, जिसका भाव इस प्रकार था—

---

१२. वही, पृष्ठ ६९।

ओ कंचनदेहवाले गौर !

नदिया को छोड़ तुम भिक्षु क्यों बनना चाहते हो ?

अहो, तुम्हारी सहधर्मिणी विष्णुप्रिया का क्या होगा ?

विश्वरूप के वियोग की व्यथा मुझमें अभी भी बनी है ;

तुम भी क्या अपनी अभागिन माँ को दुःखी करना चाहते हो ?

स्पष्टरूप से श्रीरामकृष्ण इस बात की ओर इंगित कर रहे थे कि देवेन्द्र की माता अपने बड़े पुत्र सुरेन्द्र की मृत्यु के बाद अभी भी नहीं सँभल पायी थीं। फिर उन्होंने देवेन्द्र को इस बात का भी स्मरण करा दिया कि घर में उनकी साध्वी पत्नी है, जिसके भरण-पोषण की जिम्मेदारी उन पर है।[१३] और वास्तव में लगता है इस गीत से देवेन्द्र को विश्वास हो गया कि संन्यास उनके लिए नहीं है तथा उनके जीवन की दिशा भिन्न है।

अन्य शिष्यों की भाँति देवेन्द्रनाथ भी श्रीरामकृष्ण के साथ अपनत्व-भरे और अन्तरंग सम्बन्ध का लाभ लेते थे, परन्तु अन्य बहुतों की अपेक्षा उन्हें उनके साथ अपने सम्बन्ध का स्वरूप जानने का विशेष सौभाग्य प्राप्त हुआ था। एक दिन देवेन्द्र को उनके स्वप्न का मर्म समझाते हुए श्रीराम-कृष्ण ने कहा, "जानते हो, तुम्हारा भाव वैसा ही है, जैसा गोपियों का कृष्ण के प्रति था। इसीलिए तुम्हें ऐसा स्वप्न दिखलायी पड़ा है। तुम बहुत ही भाग्यशाली हो। ऐसे स्वप्न का अर्थ है कि काम-भाव धीरे धीरे सूख रहा है।"[१४] इस प्रकार अपने चित्त का आन्तरिक स्वरूप जान लेने पर

---

१३. अक्षयकुमार सेन : वही, पृष्ठ ५५६।

१४. 'उद्बोधन' (बँगला मासिक), वर्ष २९, संख्या ५, पृष्ठ २६७।

देवेन्द्र आध्यात्मिक पथ पर नियमित उन्नति करने लगे, यहाँ तक कि वे एक प्रकार से गोपी-भाव में सराबोर हो गये। वे श्रीरामकृष्णदेव के चिन्तन में पूरी तरह डूब गये और बाद में उनके सन्देश के वे एक बहुत सशक्त माध्यम सिद्ध हुए। उन्होंने कलकत्ते के एण्टाली में 'श्रीरामकृष्ण अर्चनालय' का निर्माण किया था और अपने जीवन के अन्तिम दिन श्रीरामकृष्णदेव के चिन्तन में पूरी तरह से डूबे हुए यहीं पर बिताये थे। ११ सितम्बर, १६११ को उन्होंने अन्तिम साँस ली।

●

एक बार जब आइन्स्टीन बहुत सख्त बीमार थे, किसी ने उनसे पूछा, "क्या आपको मृत्यु से भय नहीं लगता ?" आइन्स्टीन ने उत्तर में कहा, "मुझे समस्त प्राणियों के साथ एकत्व की इतनी गहरी अनुभूति है कि मेरे लिए इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता कि एक व्यक्ति कहाँ से शुरू करता है और कहाँ पर खत्म।" फिर थोड़ा रुककर वे आगे बोले, "संसार में ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे मैं पल भर की सूचना में झटककर दूर न कर दे सकूँ।"

अल्बर्ट आइन्स्टीन : 'आयडियाज एंड ओपीनियन्स'

●

मानवरूपी ईश्वर की सेवा

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(पूज्यपाद स्वामी वीरेश्वरानन्दजी रामकृष्ण संघ के अध्यक्ष हैं। उन्होंने रामकृष्ण मिशन सेवा प्रतिष्ठान, कलकत्ता के 'इंटेंसिव केयर यूनिट' के उद्‌घाटन के अवसर पर १ जनवरी १९७९ को जो आशीर्वचन दिया था, उसका यह हिन्दी अनुवाद रामकृष्ण मठ, नागपुर के ब्रह्मचारी प्रज्ञाचैतन्य ने किया है। स्मरणीय है कि 'सेवा प्रतिष्ठान' आधुनिकतम उपकरणों एवं सुविधाओं से युक्त ५३५ शय्याओं का एक बृहत् चिकित्सालय है।—स०)

मैं आप सभी से आज यहाँ मिलकर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। मुझे याद आ रही है इस संस्था की साधारण-सी शुरूआत की। १९३२ ई० में बकुलबागान में नारी-रोगिणियों की प्रसव से पूर्व और पश्चात् देख-भाल के लिए एक दातव्य प्रसूति केन्द्र के रूप में इसकी स्थापना की गयी थी। १९३९ ई० में भवन-निर्माण पूरा हो जाने पर इसे वर्तमान स्थान पर ले आया गया था। उसके बाद २५ वर्षों तक इसने एक प्रसूति चिकित्सालय के रूप में अपनी सेवाएँ प्रदान कीं। दिनोंदिन इसकी लोकप्रियता बढ़ती गयी। तब मिशन के अधिकारियों ने इसे एक सर्वांगीण अस्पताल का रूप देना उचित समझा। अतः इसमें ६० नये बिस्तरों का योग करके इसे पुरुषों, महिलाओं और बच्चों सबके लिए उपयोगी एक सार्वजनिक अस्पताल बना दिया गया। तब से यह संस्था विभिन्न दिशाओं में उत्तरोत्तर उन्नति करती रही है और आज इस महानगर की जनता को चिकित्सा-

सेवा प्रदान करनेवाली प्रमुख चिकित्सा-संस्थानों में से एक है। यह कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा मान्यताप्राप्त एक पोस्ट-ग्रेजुएट शिक्षण और शोध संस्थान भी है। मुझसे इस अस्पताल की सातवीं मंजिल पर अवस्थित १२ बिस्तरों से युक्त 'इन्टेंसिव केयर यूनिट' का उद्घाटन करने को कहा गया है। अब तक यह यूनिट ३ बिस्तरों के द्वारा ही कार्य करता रहा है। मैं प्रसन्नतापूर्वक इसका उद्घाटन करता हूँ।

इस अवसर पर मैं आप लोगों के समक्ष श्रीरामकृष्ण-देव के उपदेशों द्वारा प्रतिपादित सेवा का आदर्श रखूँगा, जिन्हें ऐसी संस्थाओं में कार्य करते समय हमें भूलना नहीं चाहिए। यह मात्र एक अस्पताल नहीं है वरन् आध्यात्मिक और धर्म-साधना का भी एक केन्द्र है।

श्रीरामकृष्णदेव के उपदेशों के आधार पर स्वामी विवेकानन्द जी ने 'जीव ही शिव है' का आदर्श दिया और यही आदर्श इस संस्था और हमारे सभी कार्यों के मूल में है। स्वामीजी ने हमें मानव में ईश्वर की सेवा करने का आदेश दिया है। यदि हम मानवतारूपी ईश्वर की सेवा करें, तो इससे हमें मन्दिर में पूजा करने के समान ही आध्यात्मिक प्रगति में सहायता मिलेगी। मन्दिर में हम पत्थर के विग्रह में प्राण-प्रतिष्ठा कर विविध पदार्थों से उसकी पूजा करते हैं, जबकि इस पूजा में प्राण-प्रतिष्ठा की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मानव-मूर्ति में तो प्राण प्रतिष्ठित हैं ही। अतः यदि हम इस तथ्य की ओर ध्यान दें और मानवता की सेवा करें, तो वह मन्दिर में पूजा

करने से किसी मायने में कम न होगा। हाँ, पूजा के उपकरण भिन्न प्रकार के होंगे। मन्दिर में हम पुष्प-धूप आदि का निवेदन करते हैं, जबकि इस पूजा में ओषधियाँ, भोजन आदि का। पर दोनों के पीछे भाव एक ही है। इसीलिए स्वामीजी ने हमें मानवता में निहित ईश्वरत्व को देखने और सेवा करने का निर्देश दिया है; क्योंकि इससे हमारी आध्यात्मिक उन्नति में तो सहायता मिलती ही है, साथ ही चिकित्सा, शिक्षा और सामाजिक क्षेत्रों में विविध प्रकार के सत्कार्यों द्वारा समाज की भी सेवा होती है। अतः इस महान् आदर्श को आँखों से ओझल नहीं होने देना चाहिए। इस संस्था के कार्यकर्ताओं का ध्यान मैं इस तथ्य की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि उन्हें इस आदर्श के पालन में जरा सा भी अतिरिक्त समय, शक्ति या धन का व्यय करना न होगा। करना बस इतना ही होगा कि कर्म करते समय उन्हें अपना मानसिक दृष्टिकोण बदल लेना होगा और रोगी की सेवा करते समय उसके अन्दर ईश्वरत्व और देवत्व देखना होगा। इससे उन्हें अपनी आध्यात्मिक उन्नति में भी सहायता मिलेगी। किसी भी युग में ईश्वरोपलब्धि का पथ इतना आसान नहीं हुआ था। स्वामीजी के इस नये आदर्श के अनुसार अब हमें वन में जाकर ध्यान में बैठने की अथवा पूजा आदि करने की आवश्यकता नहीं है। रोगियों की सेवा करते समय सिर्फ हमें अपना दृष्टिकोण बदल लेना होगा। इससे हमारा कार्य बड़ा आसान हो जाता है। इतना ही नहीं, यह हमें एक वर्गहीन समाज, जिसके लिए आजकल प्रयास चल

रहा है, की शुरुआत करने में भी सहायक होगा। कारण यदि हम प्रत्येक मनुष्य में उसी एक ईश्वर को देखें तो इस जगत् में हम जिन विषमताओं को देखने के आदी हैं, वे लुप्त हो जाएँगी। रह जायगी मात्र एक मानवता, जिसके माध्यम से शाश्वत आत्मा स्पन्दित हो रही है। इस प्रकार बिना अधिक कष्टसाध्य परिश्रम के समाज में वर्गहीनता लायी जा सकती है। इस नये आदर्श को लाने में किसी लड़ाई-झगड़े या संघर्ष की भी आवश्यकता नहीं है। फिर स्वामीजी द्वारा प्रचारित इस नये आदर्श में एक बड़ा लाभ है।

आज धनिकों का यह कर्तव्य है कि वे गरीबों और उनकी उन्नति के लिए कार्य करें। जैसे मानव-शरीर में रक्त-संचार होता है, वैसे ही समाज या राष्ट्र-शरीर में सम्पत्ति का संचार होना चाहिए। रक्त का संचरण यदि शरीर के किसी अंग में न हो, तो वह अंग शिथिल होकर उस मनुष्य के जीवन को खतरे में डाल देगा। इसी प्रकार यदि समाज या राष्ट्र के किसी अंग में धन का संचार नहीं होता, तो वह अंग शिथिल होकर अन्त में उस पूरे समाज या राष्ट्र के विनाश का कारण होता है। यह बात स्मरणीय है कि राष्ट्र के और दूसरों के हित में ही हमारा हित भी निहित है। जिनके पास धन है, उन्हें उसका एक अंश निर्धनों के आर्थिक विकास में लगाना चाहिए, इसी में उनका कल्याण है। स्वार्थी व्यक्ति को आनन्द-लाभ असम्भव है। एकमात्र निःस्वार्थता ही आनन्द प्रदान करनेवाली है। हमारी प्रसन्नता दूसरों की प्रसन्नता पर

और हमारी भलाई दूसरों की भलाई पर आश्रित है, यह तत्त्व यदि भुला दिया गया, तो प्रसन्नता-लाभ असम्भव है।

मुझे स्वामीजी के जीवन की एक घटना याद आ रही है। तब वे अमेरिका में काफी प्रसिद्ध हो चुके थे, समाचार-पत्रों में उनके बारे में लिखा जा रहा था और सर्वत्र उन्हीं की चर्चा चल रही थी। विख्यात धनकुबेर जॉन डी० रॉकफेलर ने अपने मित्रों को बार बार इस असाधारण और अद्‌भुत हिन्दू संन्यासी की चर्चा करते हुए पाया। कई बार उन्हें स्वामीजी से मिलने का आमंत्रण भी मिला, पर किसी न किसी कारणवश उन्होंने हर बार टाल दिया। उन दिनों रॉकफेलर यद्यपि अपने भाग्य के चरमोत्कर्ष तक नहीं पहुँचे थे फिर भी वे एक शक्तिशाली और दृढ़ इच्छा-सम्पन्न व्यक्ति थे। उनसे कोई भी बात मनवाना असम्भव-सा था।

यद्यपि उनको स्वामीजी से मिलने की इच्छा न थी, पर एक दिन वे एक मनोवेग से प्रेरित हो सीधे अपने उस मित्र के घर जा पहुँचे, जहाँ स्वामीजी ठहरे हुए थे। रसोइये ने दरवाजा खोला और वे उसे धक्का देते हुए अन्दर घुस गये और बोले कि वे हिन्दू संन्यासी से मिलना चाहते हैं। रसोइये ने उनके ठहरने के कमरे की ओर इंगित किया और रॉकफेलर बिना सूचना दिये या इन्तजार किये स्वामीजी के अध्ययन-कक्ष में जा पहुँचे। यह देखकर उनके विस्मय की सीमा न रही कि लिखने की मेज पर बैठे हुए स्वामीजी ने नवागन्तुक की ओर नजर तक न उठायी।

कुछ क्षणों की खामोशी के बाद स्वामीजी ने रॉकफेलर को उनके बीते हुए जीवन से सम्बन्धित बहुतसी बातें बतायीं, जो स्वयं उनको छोड दूसरा कोई न जानता था। साथ ही उन्होंने रॉकफेलर को यह भी समझा दिया कि जो धन एकत्र किया है, वह उनका अपना नहीं है, वरन् वे उस धन के मात्र एक न्यासी हैं और उनका कर्तव्य है जगत् का हित करना। ईश्वर ने उन्हें धनाढ्य इसीलिए बनाया है कि वे लोगों की सहायता और सेवा का सुयोग पा सकें।

भला कोई रॉकफेलर को यह बतलाने का साहस करे कि उन्हें क्या करना चाहिए। वे चिढ़ गये और बिना विदा माँगे ही कमरे से बाहर निकल आये। लगभग एक सप्ताह के बाद वे फिर बिना किसी पूर्वसूचना के आये और स्वामीजी के अध्ययन-कक्ष में दाखिल हो गये। उन्होंने उन्हें उसी मुद्रा में बैठे देख उनकी मेज पर एक कागज फेंक दिया, जिसमें एक सार्वजनिक संस्था को दान के रूप में एक बड़ी धनराशि देने की योजना थी।

रॉकफेलर ने कहा, "महाशय ! अब तो आप सन्तुष्ट होंगे और मुझे इसके लिए धन्यवाद देंगे।" स्वामीजी ने न तो आँखें ही उठायीं और न अपनी जगह से हिले ही। कागज को हाथ में उठाकर पढ़ते हुए बोले, "बल्कि चाहिए यह कि आप मुझे धन्यवाद दें !" जन-हितार्थ रॉकफेलर का यह पहला बड़ा दान था।

हमारे देश के धनी नागरिकों को भी इस उदाहरण का अनुकरण करना चाहिए, ताकि लोगों के बीच

की खाई ज्यादा गहरी न हो। यह वैषम्य धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी दूर किया जाना चाहिए। इस दृष्टिकोण के साथ दूसरों की सेवा का महान् आदर्श न केवल भगवान्-लाभ में हमारी सहायता करेगा अपितु वह एक विश्वव्यापी वर्गविहीन समाज की स्थापना में भी सहायक होगा।

मैं एक बार फिर इस संस्था के कार्यकर्ताओं से अपील करूँगा कि वे स्वामीजी के 'जीव ही शिव है' इस महान् आदर्श की आजमाइश करें। मैंने पहले ही कहा है कि हमें रत्ती भर भी अतिरिक्त समय या शक्ति का व्यय करना न होगा। हमें सिर्फ अपना मानसिक दृष्टिकोण बदल लेना होगा। इससे हमें ईश्वरोपलब्धि के मार्ग में एक महान् गति मिलेगी। डाक्टर, नर्स तथा अन्य सभी कर्मचारी, जो यहाँ काम करते हैं, इस महान् आदर्श का पालन कर सकते हैं। इससे उन्हें अपने साधन-पथ में सहायता मिलेगी और संस्थान का कार्य भी सुचारु रूप से चलेगा। रोगियों को भी, जो इस अस्पताल में इलाज कराने आते हैं, बड़ी राहत मिलेगी। मुझे आशा है कि आप सभी बहुजनहिताय बहुजनसुखाय इस महान् आदर्श की आजमाइश करेंगे।

मैं इस संस्था के डाक्टरों, नर्सों, कर्मचारियों और प्रबन्धक समिति के सभी सदस्यों के प्रति बहुत आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे आप सबसे मिलने और वार्तालाप करने का सुअवसर प्रदान किया है।

●

विवेकानन्द जयन्ती समारोह-१९८३

कार्यक्रम

स्वामी विवेकानन्द का १२१ वाँ जन्म-तिथि महोत्सव

जन्मतिथि-पूजा (मन्दिर में) .. बुधवार, ५ जनवरी १९८३

<u>विद्यार्थियों के लिए विभिन्न प्रतियोगिताएँ</u>

* गुरुवार, ६ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

माध्यमिक शाला पाठावृत्ति प्रतियोगिता

* शुक्रवार, ७ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

* शनिवार, ८ जनवरी .. सायंकाल ५ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

* रविवार, ९ जनवरी .. प्रातःकाल ९ बजे

अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

* रविवार, ९ जनवरी .. सायंकाल ५ बजे

'अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

* सोमवार, १० जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्माध्यमिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता

* मंगलवार, ११ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता

* बुधवार, १२ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता

* गुरुवार, १३ जनवरी .. सायंकाल ६ बजे

अन्तर्विद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता

* सोमवार, १७ जनवरी . सायंकाल ७ बजे

विवेकानन्द जयन्ती समारोह उद्घाटन

* १८ जनवरी से २४ जनवरी तक सायंकाल ७ बजे

आध्यात्मिक प्रवचन

(अनेक सन्तों-महात्माओं द्वारा)

* २५ जनवरी से ३ फरवरी तक सायंकाल ७ बजे

रामायण प्रवचन

(प्रवचनकार : पण्डित रामकिंकर जी उपाध्याय)

* ४ फरवरी से ६ फरवरी तक सायंकाल ७ बजे

आध्यात्मिक प्रवचन

प्रवचनकार : (१) श्री राजेश रामायणी
(२) श्रीमती कृष्णादेवी, भागलपुर

★

श्री माँ सारदादेवी का १३० वाँ जयन्ती-महोत्सव

जन्मतिथि-पूजा (मन्दिर में) मंगलवार, ७ दिसम्बर १९८२

★

भगवान् श्रीरामकृष्णदेव का १४८ वाँ जयन्ती-महोत्सव

जन्मतिथि-पूजा (मन्दिर में) बुधवार, १६ मार्च १९८३

● ●